भागवती कथा खण्ड—६

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीभागवत-दर्शन—

भागवती-कथा

(षष्ठम खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

—:o:—

प्रकाशक

सङ्कीर्तन-भवन

प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

—:❀:— संशोधित मूल्य १ ७ ५

तृतीय संस्करण] अधिक
१००० प्रति] श्रावण सं० २०२३ विक्र० [मू० १-२५ पै०

विषय-सूची

षष्ठ खण्ड

भागवती कथा

हिन्दी खड़ी बोली के सार्वभौम कवि श्री बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त

की

शुभ सम्मति

प्रिय महाशय,

'भागवती कथा' के रूप में ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजी ने भावुक जनों के लिये सुस्वादु और पुष्टिकर मानसिक भोजन प्रस्तुत किया है। एतदर्थ धन्यवाद।

चिरगाँव (झाँसी)
२-२-४७

भवदीय
मैथिलीशरण गुप्त

॥ श्री हरिः ॥

बाबाजी चक्कर में फँस ही गये

[लेखकीय वक्तव्य]

न कुर्यात् कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।
यद् विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्॥
नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली॥
कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः।
कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद्बुधः॥*
(श्री भा० ५ स्क० ६ अ० ३, ४, ५ श्लो०)

छप्पय

घर तें नातो तोरि जगत् तें जे नर जोरें।
उभय भ्रष्ट तें होहिं बीच महँ लुटिया बोरें॥
मन है भावुक भूत लिपटि जाके सँग जावे।
तब सब ज्ञान विराग भक्ति तप योग भुलावे॥
करें जगत् व्यवसाय जे, कथा कीरतन छोरि कें।
हरि चिन्तन होवे नहीं, नातो जग तें जोरि कें॥

हमारी भागवती कथा के पाठक दैनिक, साप्ताहिक, मासिक आदि पत्रों के पाठकों की भाँति शीघ्र विस्मृतकारी न होंगे,

---

* अनवस्थित चंचल चित्त से कभी मित्रता न करे। देखो, इस पर विश्वास करके महादेवजी ने मोहिनी रूप के कारण—अपना

क्योंकि 'भागवती कथा' कोई सामयिक साहित्य नहीं है। यह तो अमर कथा है। सृष्टि के आदि से लेकर अंत तक कही जाने वाली एकरस वार्ता है। पाठकों को स्मरण होगा—मैंने प्रथम खण्ड की भूमिका में यह शंका की थी, कि ये भगत लोग मुझे फँसा कर अलग हो जायँगे। मैं इस चक्कर में फँस जाऊँगा, अपने लक्ष्य से च्युत होकर व्यापारी बन जाऊँगा। सो, वह मेरा अनुमान अक्षरशः सत्य निकला। इस प्रकाशन के झंझट में मेरा पूजा, पाठ, नियम, अनुष्ठान, सभी प्रायः छूट गया! अब जो कुछ होता है, मन को समझाने को लकीर पीटी जाती है। आज कागज नहीं, अभी प्रूफ नहीं आया, दूसरा खण्ड निकला नहीं, चित्र कब तक बनकर तैयार होंगे; ब्लाक बनने में इतनी देर क्यों हो रही है, प्रेस वाले इतनी सुस्ती क्यों कर रहे हैं। किस तिकड़म से कागज मिले, कैसे प्रचार हो, कैसे ग्राहक बढ़ें ? ये सब विचार इच्छा न रहने पर भी मस्तिष्क में घूमते रहते हैं। बातें करते हैं तो उसी 'भागवती कथा' के सम्बन्ध की। चिंतन करते हैं तो इसी 'भागवती कथा' के प्रचार, प्रसार और लेखन का। रात्रि में स्वप्न भी प्रायः इसी के सम्बन्ध के दीखते हैं। ऐसी

चिरोपार्जित तप नष्ट कर दिया। साधन में प्रवृत्त जो साधक योगी इस मन पर विश्वास करते हैं। उनका मन काम और उनके अनुयायी लोभ, मोह, क्रोधादि शत्रुओं को अवकाश देकर उसे उसी प्रकार नष्ट करा देते हैं जैसे व्यभिचारिणी स्त्री जारों को अवकाश देकर, अपने विश्वासी पति को नष्ट करा देती है। जो मन काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह तथा भय आदि शत्रुओं और कर्मबन्ध का मूल है, उस दुष्ट, मन पर बुद्धिमान् पुरुष कैसे विश्वास कर सकता है ?"

स्थिति में चित्त भजन में स्थिर कैसे हो ? उँगलियाँ स्वभावानुसार माला के दानों को खटकाती रहती हैं। मनीराम इधर-उधर प्रकाशन और प्रचार में भटकते रहते हैं। गीता-वक्ता के शब्दों में यह मिथ्याचार है। यह सच्चा यथार्थ सुमिरन नहीं कहा जा सकता। कर में माला फिरती रहती है, जीभ मुख में और मनुआ चाबू जगत् में।

पहिले मैं प्रायः सबसे उदासीन रहता था, क्योंकि किसी से किसी प्रकार का व्यवसायिक संसर्ग ही नहीं था। अब वह निस्पृहता भी मुझे प्रकाशन के चक्कर में फँसा देखकर रफूचक्कर हो गई। अब चक्रपाणि के चरण चक्र में चित्त न फँसकर वह प्रेस के चक्के के चाकचिक्य में चिपट गया। सीधे न सही द्राविड़ी प्राणायाम से याचना भी आरम्भ हो गई। याचक का जो पग-पग पर अपमान होता है, उसका भी अव्यक्त अनुभव हुआ। आश्वासन देने वाले भक्त जो पहिले मेरे पत्रों के लिये लालायित रहते थे, अब मैं उनके पत्रों के लिये लालायित रहता हूँ। जो इसके प्रकाशक कहे जाते हैं, वे श्रीमान् बाबू शङ्कर लालजी साहब बहादुर मोतीबाजार में बैठ कर दुशाला बेच रहे हैं। उन्हें पता भी नहीं यहाँ क्या हो रहा है ? पत्र पढ़ने का भी उन्हें अवकाश नहीं, क्योंकि 'इसमें अपना पारमार्थिक लाभ होगा' वह दिखाई नहीं देता। यही दशा अन्यों की है। शङ्कर तो मुझसे छोटा है। इससे उसका नाम ले दिया। अब बड़ों का नाम कैसे लूँ ? यही कहना पर्याप्त होगा, कि मनुष्य का जहाँ तक वश चले बड़ों से बचता ही रहे। उनके बड़े पेट में भूल कर भी प्रवेश न करे। एक राजा हाथी पर चढ़ कर शिकार को गया। मार्ग में हाथी मर गया। राजा छोड़ कर चले आये। एक सियार उसके मुख से पेट में घुस गया। भीतर

खाने को मिला, पानी भी। दो चार दिन खाता रहा। मोटा हो गया। तब तक हाथी का मुख सूख गया। अब तो गीदड़ बाबू हाथी के पेट में फँस गये। कुछ यात्री जा रहे थे। उसने उनकी वाणी सुन कर कहा—"मैं देवी हूँ, पानी लाकर इस हाथी के मुख पर डालो। मैं वरदान दूँगी।" यात्रियों ने ऐसा ही किया। मुख मुलायम होने से गीदड़ बाबू बोले—"देखो निराशा की कोई बात नहीं मैं तुम्हें लाख रुपये की एक बात बताता हूँ। बड़ों के पेट में कभी न घुसना चाहिये, क्योंकि घुसना तो सरल है, कुछ दिन माल भी मिलते हैं, किन्तु उसमें से बाहर निकलना टेढ़ी खीर है।" गीदड़ देवता का उपदेश तो ठीक है, किन्तु जिसके मन में कोई वासना उत्पन्न हो गई है और भगवान् को भूल गया है, तो उसे तो इन्हीं की ओर देखना पड़ेगा।"

वास्तव में यह प्राणी अपनी ही वासना से बँधता है। यह कहना अज्ञानजन्य है, कि उसने हमें फँसाया। कोई किसी को नहीं फँसाता। सब अपनी वासना से फँसते हैं। भीतर जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार भरे रहते हैं। परिस्थिति, काल और वस्तु को पाकर वे संस्कार जाग्रत होकर अपना फल दिखाने लगते हैं। ये संसारी विषय ऐसे हैं, इन्हें जितना ही ग्रहण करो, उतना ही अभाव प्रतीत होगा। उस अभाव की पूर्ति किसी वस्तु के संग्रह से करो, तो फिर और अभाव दीखेगा और संग्रह की इच्छा बलवती होगी। एक बड़ी प्रसिद्ध कहानी है।

कोई साधु एक कुटी में रहकर अपने गुरु से गीता पढ़ते थे। सत्रह अध्याय हो गये; अठारहवाँ चल रहा था। गुरू जी कहीं लम्बी तीर्थ यात्रा को चले गये। साधु बड़े विरक्त गाँव से नित्य मधुकरी भिक्षा कर लाते, उसे ही पाकर

का श्रवण, मनन करते रहते। एक दिन एक चूहा गीता के वस्त्र को काट गया। साधु को बड़ा दुःख हुआ। उन दिनों गीता दो आने की नहीं मिलती थी। हाथ से लिखाकर बड़ी कठिनता से प्राप्त होती थी। दूसरे दिन पुस्तक को भी काट गया। साधु ने दो [illegible] —"महाराज, एक [illegible] नहीं।" [illegible] गई। बिल्ली रोटी खाने में आनाकानी करने लगी। उसके लिये दूध माँग कर लाने लगे। नित्य प्रति साधु को भिक्षा में दूध कौन दे? जब दो चार बार लोगों ने मना किया, साधु को बुरा लगा तो किसी ने कहा—"महाराज! ऐसे रोज दूध कौन देगा? आपके समीप कितना जंगल है। एक गौ रख लो। बिल्ली भी पीवे आप भी पीवें।" बात साधु के मन पर बैठ गई और एक भक्त ने सुन्दर सी गौ भी दे दी। नित्य समीप रहने से दूध देने से गौ पर साधु का ममत्व भी हो गया पाँच-छः महीने दूध देकर गौ बिसुक गई। जिस जिह्वा को दूध की लत पड़ गई, वह अब दूध के बिना लपलपाने लगी। एक दूसरी गौ आई। अब दो गौ का केवल घास से काम कैसे चले—साधु बाबा चारा माँग कर लाने लगे। तब भूमि के पति ने सम्मति दी—"महाराजजी, नित्य कोई भूसा चारा न देगा। आप एक काम करें। जैसे दो गौएँ हैं, दो बछड़े हैं, दो बैल और रख लो। कुटी के आस पास की जो भूमि है, उसे जोत बो लिया करो। भूसा हो जायगा और कुछ अन्न भी। आये हुए महात्माओं का स्वागत सत्कार भी हो जायगा और द्वार-द्वार याचना भी न करनी पड़ेगी।"

बात साधु के अनुकूल थी। दो बैल भी मिल गये। खेती होने लगी। दिन भर साधु बाबा खेत में काम करते रात्रि में

थक जाते, भोजन भी वनाना कठिन हो जाता। छः छः पशुओं की सेवा, गोबर, पानी, झाड़ बुहारी खेती-वारी, पूरी गृहस्थी का काम काज था। एक विधवा साधु के समीप आकर दयावश कभी-कभी उनकी रोटी वना देती थी, झाड़ू बुहारू देती थी और भी उनके काम में हाथ बटा लेती थी। जिस दिन न आती, उस दिन आधी रात्रि तक काम नहीं निपटता। साधु वावा भूखे ही सो रहते।

एक दिन उस विधवा ने प्रस्ताव किया—"महाराज, मेरे कोई है नहीं, आपका कष्ट मुझसे देखा नहीं जाता। आज्ञा हो तो यहीं मैं पड़ रहा करूँगी। झाड़ू बुहारी गोवर पानी कर लिया करूँगी, रोटी भी वना लिया करूँगी, आपको भी कष्ट न होगा, मेरे भी दिन कट जायँगे।" क्या करते साधु वावा? इच्छा न होने पर भी उन्हें स्वीकार करना पड़ा। उसके आने से बड़ी सुविधायें हो गईं। आधे से अधिक काम उसने बाट लिया। दिन भर घर के काम में लगी रहती; साधु थक जाते तो चरण सेवा भी कर देती। इधर गौओं का भी वंश बढ़ने लगा। उधर साधु वावा की भी वंश वृद्धि आरम्भ हो गई। पाँच सात वच्चे भी हो गये।"

बारह वर्ष की तीर्थ यात्रा करके गुरुजी लौटे तो उन्हे ध्यान आया—शिष्य को चलकर अठारहवाँ अध्याय पढ़ाना है। विना अठारहवाँ पढ़े सत्रह का फल ही क्या? यही सब सोच-कर गुरुजी शिष्य के समीप आये। दूर से उन्होंने देखा—चेले के कंधों पर दो छोकरे वैठे हैं। एक पीठ पर चढ़ा है, दो गोदी में हैं, एक पीछे दौड़ रहा है। देखते ही गुरु आश्चर्य चकित हो गये। शिष्य अब तो बोझ से लदे थे, साष्टाङ्ग कैसे करते? दूर से ही बोले—"गुरुजी! डंडौत!"

गुरुजी ने विस्मय के साथ पूछा—"अरे, बच्चा! यह तेरी क्या दशा है? यह क्या हुआ?"

शिष्य ने सरलता के साथ कहा—"गुरुजी! हुआ क्या, गीता ब्याहि पड़ी?"

सब वृत्तान्त सुनकर गुरुजी बोले—"अरे, छोड़ इस झंझट को। यह तो मायाजाल है।"

इस पर शिष्य ने कहा—"महाराज, कैसे छोड़ूँ? मैं तो बहुत चाहता हूँ छोड़ दूँ, किन्तु ये तो मुझे छोड़ते ही नहीं। चलिये, आप कुटी पर।"

गुरुजी शिष्य को लेकर कुटी पर पहुँचे। शिष्य ने अपनी भगतिनि से कहा—"सुनती है, गुरु महाराज आये हैं। कहते हैं इस झंझट को छोड़ो। तेरी क्या सम्मति है?"

यह सुनते ही वह बिलख-बिलख कर रोने लगी। बच्चे भी रोने लगे। स्त्री बच्चों का हास्य उतना मोहक और आकर्षक नहीं होता जितना उनका कारुणिक रुदन और प्रेमकोप आकर्षक होता है। शिष्य ने कहा—"गुरुजी, क्या करूँ? अब तो इन्होंने मुझे बाँध लिया है, ये छोड़ते ही नहीं।"

गुरुजी की शिष्य पर कृपा थी, वे उसका उद्धार चाहते थे। अतः उन्होंने कुछ नहीं कहा। दूसरे दिन उन्होंने समीप के ही एक वृक्ष को जाकर जेट भर ली और चिल्लाने लगे—"अरे, बच्चा चलियो, चलियो! मुझे वृक्ष ने पकड़ लिया है।" गुरुजी की वाणी सुनकर शिष्य महोदय दौड़े-दौड़े गये। उनके पीछे उनके बच्चे-कच्चे भी दौड़े गये। देखा, गुरुजी बड़ी दृढ़ता से वृक्ष को जेट में भरे खड़े हैं। देखते ही शिष्य ने कहा—"गुरुजी, आप वृक्ष को छोड़ दीजिये।"

विवशता के स्वर में गुरुजी ने कहा—"कैसे छोड़ दूँ? भैया! यह मुझे छोड़े तब तो। इसने तो मुझे पकड़ रखा है।"

इस पर हँसकर शिष्य ने कहा—"महाराज, उसने कहा पकड़ रखा है। आप ही उसे जेट में भरे हैं। आप छोड़कर अलग हो जायँ, तो वृक्ष तो कुछ कर नहीं सकता।"

यह सुनकर गुरुजी हँस पड़े और बोले—"भैया, जो शिक्षा तू मुझे देता है, उसका पालन स्वयं क्यों नहीं करता? इन वस्त्रों ने तुझे पकड़ रखा है, कि अपनी वासना से—इनकी सृष्टि करके, इनमें ममत्व स्थापित करके—तू इन्हें पकड़े हुए है?" अठारहवें अध्याय का सार यही है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥

वास्तव में कोई अन्य व्यक्ति किसी को न चक्कर में फँसा सकता है, न अपने लक्ष्य से च्युत करा सकता है। मनुष्य वासनाओं के वशीभूत होकर रेशम के कीड़े की भाँति स्वयं ही जाल बनाता है और स्वयं ही फँसता है। लोगों के सम्मुख अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के निमित्त दूसरों को दोष देता है। दूसरों पर टाल देता है। मेरे यहाँ बहुत लड़के आते हैं—"महाराज, मैं विवाह नहीं करूँगा। बड़ा झंझट है, मरण होता है, मनुष्य फँस जाता है, स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, उन्नति नहीं होती आदि आदि।" मैं कहता हूँ—"न, भैया! यह ठीक नहीं। विवाह अवश्य करना चाहिये। देखो, ऐसे बिना घरद्वार के रहना ठीक नहीं।"

इस पर वे मुझसे असन्तुष्ट होकर कहते हैं—"महाराज आप भी ऐसी सम्मति देते हैं। आपको तो हमें बचाना चाहिये। मैं कभी न करूँगा।" नित्य ही ऐसी बातें सुनते-सुनते मैं तो नाड़ी की गति समझ गया हूँ। कह देता हूँ—"अच्छी बात है अभी, कुछ दिन प्रतीक्षा करो। देखें, भगवान् क्या करते हैं?" कुछ काल के पश्चात् वे आते हैं—घरवाली के साथ, एक दो बच्चों के साथ। मेरा स्वभाव तो मुँह फट है ही। बिना शील संकोच के हँसी-हँसी में सभी बातें कह डालता हूँ, पूछता हूँ—"क्यों, भैया! तू तो विवाह करना ही नहीं चाहता था?"

इस पर वे अन्यमनस्क होकर कहते हैं—"अजी, महाराज! क्या बतावें, हमारी तो तनिक भी इच्छा नहीं थी। पिता जी बड़े अप्रसन्न हुए। माताजी ने भोजन बन्द कर दिया। बड़े भाई पीछे ही पड़ गये। क्या करता? विवश हो गया, करना ही पड़ा।" इस पर हँस कर मैं कह देता हूँ—"विवाह तो उनके कहने से किया और यह पिच-पिच किसके कहने से की?"

बात यह है, छिपी हुई वासनाओं के उदय होने का जब अवसर आता है, तो मनुष्य अनेक सुविधाओं को सोचता है। मति उस समय वैसी ही उन जाती है। व्यापारी जिस व्यवसाय को आरम्भ करता है, उसमें वह लाभ ही लाभ सोचता है। यदि उसे हानि की सम्भावना हो, तो कभी आरम्भ ही न करे। पीछे हानि हो जाय, तो दूसरी बात है।

लिखने का मुझे व्यसन है। इसके लिये मैंने प्रयत्न भी किया कि यह व्यसन छूट जाय, किन्तु न छूटा, तो मैं इसके सम्मुख नत मस्तक हो गया। मेरे जीवन में स्थिरता नहीं।

सोचा यह था—'जब लिखना ही है, तो भगवत् तथा भागवत सम्बन्धी बातें लिखो। इसी लिये 'भागवती कथा' लिखने की अन्तःकरण से प्रेरणा हुई। उसका लिखना आरम्भ कर दिया। पाँच-सात खण्ड लिख गये। तब उन्हें प्रकाशित करने की वासना उत्पन्न हुई। प्रकाशित करने में मुख्य उद्देश्य प्रसिद्धि तो है ही, एक यह भी उद्देश्य था, कि प्रकाशित होना आरम्भ हो जायगा, तो मैं लिखने के लिए विवश हो जाऊँगा। एक दो पुस्तक को छोड़ कर मेरी सभी पुस्तकें इसी लोभ से पूरी हुई हैं, कि मैं लिखता गया हूँ, प्रकाशक छापते गये हैं और मुझे बार-बार विवश करते हैं—'शीघ्र भेजो, काम रुका है। इसे पूरा कर लें तब दूसरे कार्य में हाथ डालें।' इस प्रकार वे पुस्तकें पूरी हुई हैं। जिसमें ऐसी बात नहीं हुई, वे पुस्तकें प्रायः अधूरी ही पड़ी रह गई। ऐसी कई पुस्तकें अधूरी ही अब तक पड़ी हैं। अब रह गई सो रह गई। यदि कोई परमार्थ भावना वाला प्रकाशक इसे स्वतः प्रकाशित करता, तो मैं बहुत से झंझटों से मुक्त हो जाता। पाँच छः महीने मैंने इसी के लिये कइयों से लिखा-पढ़ी की। किन्तु इस कागज की इतनी महँगाई में कोई भी बड़े से बड़ा प्रकाशक इतने बड़े महाग्रंथ को प्रकाशित करने को तैयार नहीं हुआ। तब मेरे कुछ हितैषी भगतों ने सम्मति दी, कि यहीं संकीर्तन भवन से प्रकाशित हो तो क्या हानि? मैं तो प्रकाशन का, प्रेस का, छपाई का सभी अनुभव किये बैठा हूँ। बात मुझे यह जँची नहीं। चिरकाल तक टालमटोल करता रहा। अन्त में मेरी प्रबल वासना ने मुझे इस कार्य में प्रवृत्त कर ही दिया। आरम्भ में यही सोचा था—चार-पाँच खण्ड निकाल दूँगा, गाड़ी चल पड़ेगी। सब लोग सम्हाल लेंगे परमार्थ कार्य है। कथा कीर्तन का प्रचार हो, इससे बढ़कर

भगवत् सेवा और क्या हो सकती है ? यही बात मैंने प्रथम खण्ड की भूमिका में लिखी थी। प्रकाशन आरम्भ हो गया। पाँच खण्ड इसके प्रकाशित हो गये, यह छठा खण्ड आपके हाथों में है। इनकी छपाई में कितनी कठिनाइयाँ हुईं, इसे मैं जानता हूँ या नन्दलाल भगवान् के अतिरिक्त और कोई इसे जानता हो, यह कहना कठिन है।

जमे हुए पुराने काम में कोई कठिनाई नहीं। कोई भी बुद्धिमान पुरुष कर सकता है। किन्तु जब सब वस्तुओं पर रोक थाम, नियम आदि लगे हों। बिना आज्ञा के कागज मिलता ही न हो, ऐसे समय बिना प्रेस और बिना पैसे वाले व्यक्ति को प्रति मास दो सौ पचास पृष्ठ के सचित्र ग्रन्थ को प्रकाशित करना अत्यन्त ही कठिन है। इन कठिनाइयों के कारण मेरे साधन भजन में बहुत धक्का लगा। मेरी चित्त की वृत्ति दूसरी ओर लगी। मन में वणिक् वृत्ति जाग्रत हो गई। उत्थान के स्थान पर पतन हुआ। उन्नति की अपेक्षा जीवन में अवनति हुई। चित्त चंचल हो गया। जिन लोगों से बीसों वर्ष से निस्पृह था, उनसे पुराने परिचय निकालने लगा। कामना भी मन में उत्पन्न हुई, लोभ की मात्रा भी बढ़ गई, छोटे बड़ों में भेद भाव बढ़ गया, समय पर इच्छानुकूल कार्य न होने से क्रोध भी आने लगा। पहिले प्रायः निरन्तर नाम स्मरण होता था' अब वह धारा अविच्छिन्न न रहकर विच्छिन्न होने लगी न, कितना भी अविच्छिन्न नाम जप का अभ्यास हो, तीन बातों में वह विच्छिन्न हो ही जाता है। काम वासना के प्रबल होने से नाम की धारा टूट जाती है' क्योंकि जहाँ काम है वहाँ राम रहते नहीं। दूसरे हृदय में क्रोध आने पर नाम की धारा टूट जाती है। तीसरे अनुचित लोभ उत्पन्न हो जाने पर धारा

अविच्छिन्न नहीं रहने पाती। जिसके मन में भगवत् सेवा के अतिरिक्त किसी कार्य की प्रबल वासना है, उसका चित्त स्थिर नहीं रहने पाता। उसमें चंचलता आ ही जाती है।

जितना मेरा अनुमान था, उससे यह ग्रन्थ कहीं अधिक बड़ा होगा, अब तक लगभग २२ खण्ड लिखे जा चुके हैं और छठा स्कन्ध समाप्त भी नहीं हुआ। अभी कितने और होंगे भगवान् जानें, यदि भगवान् की इच्छा इसे पूर्ण करने की हुई तो लिखने में तो मुझे कोई विक्षेप होता नहीं। उस समय तो सब ओर से चित्त की वृत्तियाँ हट कर तन्मय हो जाती है, समाधि सुख का अनुभव होने लगता है। लिखना मेरी प्रकृति के अनुकूल है, किन्तु यह प्रकाशन का झंझट मेरी प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है। आज यह नहीं, कल वह नहीं, समय पर नहीं निकला, इन बातों मे चित्त में चंचलता होती है। जिससे प्रकाशन की आशायें थीं, उन्होंने सर्वथा कुछ नहीं किया—यह कहना तो झूठ भी होगा, पाप भी होगा किन्तु वह करना न करने के ही बराबर है। रुपये में एक आना समझिये। शेष पन्द्रह आना में हम और सब हैं। यदि यह साढ़े सात आना भर भार मेरे सिर से और उतर जाय, तो मैं कुछ उलटा सीधा भजन भी कर सकूँ और लिख भी सकूँ। इस पुस्तक को लोगों ने पसन्द न किया हो, सो भी बात नहीं है। अब तक की माँगों से तो हमने यही अनुभव किया है, कि यदि कुछ सच्ची लगन से निस्वार्थ भाव से सेवा करने वाले व्यक्ति मिलें, तो इसके प्रकाशन में आर्थिक घाटा भी नहीं है और इसका बहुत प्रचार हो सकता है। अभी इसे प्रकाशित हुए सात-आठ महीने ही हुए हैं। इसके लिये कोई विशेष प्रयत्न भी नहीं किया गया। बाहर प्रचारक भी नहीं गये,

विज्ञापन भी नहीं हुआ। फिर भी लगभग १८०० प्रतियाँ इसकी बाहर जाने लगी हैं। अधिक प्रयत्न इसलिए नहीं किया कि यदि अधिक माँग आने लगी तो हम कागज की कमी के कारण सब की माँगों को पूरी न कर सकेंगे। प्रथम खण्ड का दूसरा संस्करण हो गया, तीसरा होने वाला है। दूसरे खण्ड का द्वितीय संस्करण हो रहा है। यदि भागवती कथा के पाठक प्रयत्न करें और यहाँ से प्रचारार्थ बाहर प्रचारक भी जायँ, तो इस साल में पाँच हजार ग्राहक हो जाना कोई बड़ी बात नहीं। यदि वर्ष के अन्त में पाँच हजार ग्राहक हो जायँ और तीन-चार निस्वार्थ सेवा करने वाले बन्धु मिल जायँ, और छपाई का नियमित सुन्दर प्रबन्ध हो जाय, तो इसका पूरा प्रकाशन बिना किसी विघ्न बाधा के हो सकता है। अब तो मैं इस प्रकाशन में फँस कर लक्ष्यच्युत सा हो रहा हूँ। सैकड़ों पुरुषों के अग्रिम १५) २५) आ चुके हैं। समय पर खण्ड नहीं पहुँचता; तो वे इतनी खरी खोटी बातें लिखते हैं, इतना अविश्वास प्रकट करते हैं मानो उनसे १५) ठगने के लिये ही यह सब ढोंग रचा। उनका भी कोई दोष नहीं। दूध का जला हुआ छाछ को फूँक-फूँक कर पीता है। आज कल अधर्म की वृद्धि से लोगों ने इतना अविश्वास पैदा कर दिया है, कि एक दो अंक निकाल कर साल भर के मूल्य को हड़प जाते हैं। मैं 'भागवती कथा' के पाठकों को प्रकाशकों की ओर से विश्वास दिलाता हूँ, वे किसी प्रकार का अविश्वास न करें। यों कोई महान् दैवी घटना हो जाय उसकी बात दूसरी है, नहीं तो बराबर खण्ड प्रकाशित होंगे। उनके पास पूरे खण्ड पहुँचेंगे, यों कागज न मिलने के कारण अथवा छपाई के कारण देर सबेर हो जाय, यह दूसरी बात है। यदि किसी कारण से

प्रकाशक इसे प्रकाशित करने में असमर्थ होंगे, तो शेष खंडों का मूल्य धन्यवाद सहित लौटा दिया जायगा। हम लोग रुपयों के पीछे अपने धर्म को, सदाचार को खो बैठें, ऐसी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। रुपयों को हमने कभी भी महत्व नहीं दिया है। हमारा धन है भगवत् स्मृति। उसमें जब विघ्न होता है, तो हमें कष्ट होता है। हम समझते हैं हम अपने स्वरूप से च्युत हो रहे हैं।

मेरे जीवन में कभी वैराग्य की लहर आई थी। ज्वर जैसे उतर जाता है वैसे ही यह वैराग्य की लहर उतर गई। उसका जब स्मरण करता हूँ और आज के जीवन से उसकी तुलना करता हूँ, तो मुझे ग्लानि होती है। लोग कहने लगे हैं—'ब्रह्मचारीजी अब तो महन्त बन गये हैं। महन्त शब्द कोई बुरा तो है नहीं। महान्त से महन्त बना है, किन्तु विरक्तों में वर्तमान परिस्थिति के अनुसार यह गाली समझी जाती है। जैसा मेरा जीवन प्रवाह चल रहा है, उसमें यदि यह गाली मुझे दी जाती है, तो यह अनुचित नहीं। निश्चय मेरी कीर्ति और प्रतिष्ठा की वासना ने मुझे व्यवसाय में फँसा दिया है और इसमें श्री भगवान् ही निकालना चाहें तो निकाल सकते हैं। अब चक्कर में तो फँस ही गया हूँ।

कुछ लोगों का कहना ऐसा है—"महाराज! चक्कर-फक्कर में आप कुछ नहीं फँसे हैं। ऐसी बातें कह कर आप दूसरों को फँसाना चाहते हैं। इसी बहाने कुछ माल मार कर अपनी पूँजी बढ़ाना चाहते हैं! दूकान जमाना चाहते हैं। यह कथन सर्वांश में सत्य न भी हो, तो भी इसमें कुछ सत्यांश है। मैं फँसाना अवश्य चाहता हूँ, किन्तु माल मारने के लिये नहीं। चाहता मैं यह हूँ कि जो इन व्यावसायिक कार्यों में चतुर हो,

जिनकी ऐसे कार्यों में स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, वे निस्वार्थ भाव—पुण्य और परोपकार की भावना—से इसे अपना लें। अपना कार्य समझ कर करें, जिससे मैं इन कागज स्याही और छपाई प्रेस के झंझटों से मुक्त हो जाऊँ।

कुछ लोगों का कहना है, कि तुम इसे झंझट समझते ही क्यों हो ? भगवत् सेवा समझ कर अनासक्त भाव से करो। फल की इच्छा मत रखो, तुम्हारा अधिकार कर्म करने में है, फल की चिन्ता को भगवान् पर छोड़ दो। सोच लो, भगवान् को तुमसे यही कार्य कराना है। इन सबको झंझट न समझ कर भगवान् की देन समझो। गुलाब के फूल के साथ काँटा रहेगा ही। उससे घृणा मत करो, उसे आवश्यक मत मानो।

बात तो यह सत्य है, अमूल्य है। दो ही बातें हैं, या तो सब कुछ छोड़ कर एक मात्र भगवान् का भजन ही करें या जो भी कुछ करें उस सबको भगवत् भजन ही समझें। इन दोनों में से एक भी बात हो जाय, तो बानिक बन जाय। किन्तु होता नहीं है। सब कुछ व्यापार छोड़ कर निरन्तर भगवान का भजन होता नहीं है और कार्य करते समय कर्तृत्वपने का अभिमान आही जाता है। पश्चात्ताप तथा दुःख का कारण यही है। यदि अनुकूल प्रतिकूल सभी को प्रभु-दत्त समझ कर उसमें वह भाव हो जाय तब तो न कोई चक्कर है न फक्कर अब तो अनुकूल होता है, तो उसको अपना ही किया समझकर कर्तृत्वपने का भाव आरोप करते हैं। यदि प्रतिकूल हुआ, तो उसे भगवान् की अकृपा समझते हैं। यही माया का चक्कर है। यही बन्धन का मूल कारण है। यह भाव मिट जाय, तो न कोई बन्धन, न कोई मुक्ति का साधन। अतः समस्त 'भागवती कथा'

के पाठक मिल कर मुझे हृदय से आशीर्वाद दें, कि मेरे मन का मैल दूर हो, मेरे संशयों का नाश हो, मेरी प्रभु पाद पद्मों में प्रीति हो। मुझे फँसावट तो प्रत्यक्ष ही दीख रही है। 'भागवती कथा' पूरी लिखी जाय, इसकी वासना भी प्रबल है। वासनाओं के प्राबल्य से ही परिग्रह संग्रह करने की इच्छा होती है। किन्तु इस फंसावट में, इस वासना में आशा की एक ही किरण दिखाई देती है वह मैं सब कुछ भगवान् के नाम पर कर रहा हूं यद्यपि मुझ में भक्ति नहीं, पद प्रतिष्ठा से रहित होकर कार्य कर सकूँ यह शक्ति नहीं। अपने में उत्थान के स्थान में पतन के ही लक्षण पा रहा हूँ। अब मैं पतन के किनारे ही पर खड़े होकर अपने स्वरूप को निहार रहा हूँ। जब तक आत्मस्मृति है तब तक आशा है, जब यह भी विस्मृत हो जायगी, तो करार टूट जायगा और मैं विषय के गर्त मे धड़ाम से गिर जाऊँगा। यदि भगवान् को लाज होगी तो मुझे हाथ पकड़कर उबार लेंगे। आज-कल मेरी परीक्षा के दिवस हैं। आज तक मैं कभी किसी ऐसा परीक्षा में नहीं वैठा। अब तक परीक्षाओं से डरता रहा, बचता रहा, किन्तु अब जान बूझ कर इस आग में कूद पड़ा, या किसी ने बलपूर्वक परीक्षा स्थल में घुसा दिया। हे आशुतोष ! मैंने परिश्रम नहीं किया, पाठ्य पुस्तकों का लगन के साथ अध्ययन भी नहीं किया, फिर भी तुम्हारी मनौती मानता हूँ, तुम्हारा नाम लेता हूँ। इस महाशिवरात्रि के पुण्य पर्व पर मुझे भिक्षा दो ! इस परीक्षा मे मुझे उत्तीर्ण कर दो। देखो, लोग यह न कहें कि जन्म भर में तो यह एक परिक्षा में बैठा, उसमें भी असफल रहा। नाम तुम्हारा बदनाम होगा। मैं तो पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पाप संभव' रटता ही हूँ। अपने नाम की लाज सम्हारो।

"आइगी लाज तुम्हारी नाथ ! मेरो का बिगरेगो।'

हे पशुपति शिव विश्वनाथ अज दानी औघर ॥
हे हर शंकर शम्भु सतीपति अलख अगोचर।
हे त्रिनेत्र त्रिपुरारि कामरिपु सबके स्वामी॥
हे अज अच्युत अखिल जगपति अन्तर्यामी॥
हे मा जगदम्बा जननि! भोले बाबा ते कहो।
क्यों बहरे बैठे बने, क्यों निज शिशु दुर्गति सहो॥

श्रावण, सं० २००५ वि०
संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) —प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

विदुर मैत्रेय सम्वाद का उपोद्घात

(१००)

एवमेतत् पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान्किल ।
क्षत्त्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत् ॥
यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः ।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ॥*
(श्री भा० ३ स्क० १ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

श्रीशुक बोले—"भूप ! विदुर ने ये ही बातें ।
मैत्रे मुनि तें सुनी कहूँ तिनही कूँ तातें ।
राजा पूछें—"प्रभो ! विदुरजी की मुनिवर तें ।
भेंट भई कब कहाँ ? गये जब बनकूँ घर तें ।
श्रीशुक बोले—"का कहूँ ! विदुर भवन मुनि मन हरन ।
तिहि तजि तीरथ कूँ गये, जहँ निवसे राधारमन ।"

संसारी लोगों के सम्बन्ध की स्मृति-वस्तु में किया हुआ मोह संसारी बन्धन को दृढ़ बनाता है, वही मोह यदि भगवत् सम्बन्ध से भगवान् और भक्तों की स्मृति-वस्तुओं से किया

---

* श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! जैसे प्रश्न आपने मुझसे पूछे हैं वैसे ही प्रश्न जब अपने समृद्धिशाली घर

जाय, तो उससे भगवत् स्नेह बढ़ता है। तीर्थों में और है क्या? उनका सम्बन्ध भगवत् और भागवतों से है। उनमें जाने से भगवान् स्मृति होती है। ये वे ही गंगाजी हैं जो भगवान् के पखारे हुए पाद-पद्मों के पय से प्रवाहित हुई हैं। यह वही पुरी है, जहाँ उत्पन्न होकर कौशल्यानन्दवर्धन रघुनन्दन ने भाँति-भाँति की मनुष्योचित क्रीड़ायें की हैं। यह जन्मस्थान है, यह दशरथ भवन है, यह कनक महल है, यह सीता रसोई है। यहाँ भगवान् वनवास के समय पधारे थे, अतः यह चित्रकूट साकेतधाम के ही समान है जिनका नाम लेने से भक्त भगवान् की स्मृति हो, किसी भी प्रकार जिनका भगवल्लीलाओं से प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो, वे ही परम पावन तीर्थ हैं। संसारी लोग स्मृति बनाते हैं, इस घर में मेरा जन्म हुआ था, इस घर को मेरी सास ने पहिले-पहिले मुझे रहने को दिया था। यहाँ उनकी स्मृति बनाओ, यहाँ उनका नाम लिखो! उनकी संगमरमर की समाधि बना दो। अरे, अज्ञानियों! जब वह इस सजीव शरीर को ही छोड़कर चला गया, वही उसकी स्मृति को स्थाई न रख सका, तो ये निर्जीव ईंट पत्थर उसकी स्मृति को कितने दिन जीवित रख सकेंगे? इसीलिए जो मुमुक्षु हैं, भगवत् भक्त हैं वे सब वस्तुओं में भागवत और भक्तों की स्मृति को ही प्रधानता देते हैं। सौभाग्य से

को त्याग कर विदुरजी वन में (तीर्थ यात्रा में) गये थे, तब उन्होंने भगवान् मैत्रेय से किये थे। अरे, राजन्! उन विदुरजी के घर का जितना भी महत्व बताया जाय, सब थोड़ा है। जिस घर में पांडवों के दूत बनकर भगवान् दुर्योधन के राजमहल को छोड़ कर, उसे अपना ही घर समझकर बिना बुलाये चले गये थे।"

उनके घर में कोई सन्त पधार जाते हैं, तो उनकी छवि को उनके सुन्दर चित्र को—वह स्मृति रूप में लगाते हैं, उनकी पादुका स्थापित करते हैं, चरण चिह्नों के लिए पीठ बनाते हैं, घर में पूजा स्थापित करते हैं, उत्सवों के लिए अलग-अलग स्थल निश्चित करते हैं, जिससे बार बार स्मरण हो जाय। पूजा वाले घर में वह वस्तु रक्खी है, जन्मोत्सव वाले चौक को लीप दो, रथ यात्रा वाली कोठरी की सफाई कर दो, आदि-आदि। वे परम भक्त धन्य हैं, जिनके घर में भगवान् स्वयं सशरीर मानुषी विग्रह बना कर पधारते हैं, महाभाग परम भागवत जगद्वन्द्य महामना विदुरजी उन्हीं भाग्यशाली भगवद् भक्तों में से हैं। वे स्वयं तो वन्दनीय, पूजनीय और प्रातःस्मरणीय हैं ही, उनके घर की धूलिका कण-कण भी परम पवित्र हैं, जहाँ पतितपावन परात्पर परमेश्वर पांडवपति प्रभु के पादपद्मों की पावन पराग पड़ी थी। उनका घर इस कारण से कोटि तीर्थों से भी श्रेष्ठ बन गया था। यही सब स्मरण करके गद्गद् कंठ से महामुनि शुकदेवजी कहने लगे।

श्रीशुक बोले—"राजन्! तुम जो मुझसे प्रश्न पूछ रहे हो। यही प्रश्न महात्मा विदुरजी ने भाग्यवान् मैत्रेय मुनि जी से पूछा था।"

महाराज ने बीच में ही पूछा—"प्रभो! मैत्रय मुनि से महाभागवत विदुरजी की भेट कहाँ हो गई? क्या मैत्रेयजी हस्तिनापुर पधारे थे?"

श्रीशुक बोले—"नहीं राजन्! मैत्रय भगवान् हस्तिनापुर नहीं पधारे थे। जब विदुरजी अपने परम समृद्धिशाली, परम ऐश्वर्ययुक्त, सर्वश्रेष्ठ, सर्व सौभाग्ययुक्त सुन्दरों से भी सुन्दर

भवन को दुखी मन से त्याग कर वन के लिए पधारे थे। उसी समय हरिद्वार में—कुशावर्त क्षेत्र में—श्रीमैत्रेयजी के साथ उनका संवाद हुआ।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित कुछ आश्चर्य चकित होकर पूछने लगे—"प्रभो ! आप श्रीविदुरजी के भवन की इतनी प्रशंसा कर रहे हैं, इतनी श्रेष्ठ-श्रेष्ठ उपमायें दे रहे हैं, इससे मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। यद्यपि श्रीविदुरजी मेरे पितामहों के भी पितृव्य (चाचा) थे, किन्तु मैंने ऐसा सुना, कि वे दासी पुत्र थे। उन्हें राज्य की ओर से कोई साधारण सा घर मिला होगा। उस साधारण घर की तो आप इतनी प्रशंसा करते हैं, उसे परम समृद्धिशाली बता रहे हैं और वास्तव में जो समृद्ध है, जिनमें संसार के सभी श्रेष्ठ-श्रेष्ठ रत्न, मणि-माणिक्य एकत्रित थे, उन कौरवों के भवनों का आप नाम भी नहीं लेते, यह क्या बात है ?"

इतना सुनते ही श्रीशुक के दोनों कमल के समान नेत्र जल से भर गये और उनमें से ओस-कण के समान शनैः शनैः—कपोलों पर लकीर करते हुए—अश्रु-बिन्दु उनके वक्षस्थल को भिगोने लगे। आँसू पोंछ कर श्रीशुक कहने लगे—"राजन् ! उन महाभाग विदुरजी के घर के लिये जो भी उपमायें दी जायँ, वे सब कम हैं। अहा ! वे कितने भाग्यशाली थे, उनका वह घर कितना परमपावन था, उस घर की धूलि के स्पर्श मात्र से पापी पुरुष भी पावन बन सकता था। उसी घर को विदुरजी ने अनिच्छापूर्वक त्याग दिया। दुष्टों ने उस परम प्रिय आवास को त्यागने के लिये उन्हें विवश बना दिया। राजन् ! तुम्हारे पितामहों के सन्धि दूत बन कर हस्तिनापुर में

पधारे हुए भगवान् नन्दनन्दन ने विदुरजी के ही भवन को अपनी पद-धूलि से पावन बनाया। बिना बुलाये ही अपने घर के समान बिना रोक-टोंक उसमें चले गये। और जाकर वहाँ माँग कर केले नहीं, केले के छिलके खाये।'

इस पर महाराज परीक्षित ने पूछा—"प्रभो! महाभारत के प्रसंग में मैंने यह कथा सुनी तो है, किन्तु उसमें केलों के छिलके खाने वाली बात नहीं है। इस प्रसङ्ग को आप मुझे सुनावें।"

यह सुन कर श्रीशुक महाराज की प्रशंसा करते हुए बोले—"राजन्! तुम धन्य हो, तुम्हारा मन सदा ही श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में लगा रहता है, तभी तो श्रीकृष्ण-कथा का सूत्र पाते ही आप उसका विस्तार से वर्णन सुनना चाहते हैं। महाराज! यह प्रसंग बहुत बड़ा है इसलिये विस्तार से न बताकर मैं आपको इसे अत्यन्त संक्षेप में ही सुनाऊँगा।

"अज्ञातवास का समय समाप्त करके आपके पितामह अपने राज्य की प्राप्ति के लिये उद्योग करने लगे। जब वे सब प्रकार से शान्तिमय उपायों में असफल रहे, तब तो—उन्होंने सैन्य संग्रह करना आरम्भ किया। फिर भी धर्मराज की इच्छा युद्ध करने की नहीं थी, वे जाति द्रोह कुलनाश से अत्यधिक डरते थे। उनके अभिप्राय को समझ कर भक्तवत्सल मधुसूदन उनसे बोले—"राजन्! आप इतने चिन्तत क्यों होते हैं? मैं आपका दूत बनकर हस्तिनापुर जाऊँगा, उद्धत कौरवों को मैं डाँट फटकार कर सीधे रास्ते पर लाऊँगा, मैं उन्हें सब ऊँच-नीच समझाऊँगा, अपना बल पौरुष बताऊँगा, आपका सन्देश सुनाऊँगा। अपनी ओर से कोई बात उठा न रखूँगा।

इतने पर भी वे दुष्ट न मानेंगे, तो मैं उन्हें वहीं पर मार डालूँगा। आप चिन्ता त्यागिये। मुझ सेवक के रहते हुए आपको दुखित होना— चिन्ता करना—योग्य नहीं।'

आँखों में आँसू भर कर धर्मराज बोले—'मधुसूदन! आप ही एक मात्र हमारी गति हैं। हे अशरण-शरण! हमने तो आपके ही मुनिजनवन्द्य चरणारविन्दों को जकड़ कर पकड़ लिया है। आप हमारी उसी प्रकार सदा रक्षा करते हैं, जैसे पक्षी की स्त्री अपने अंडों की रक्षा करती है। फिर भी हे द्वारिकानाथ! हे यादवेन्द्र! आपको दूत बना कर भेजना मैं उचित नहीं समझता। यह कार्य आपके अनुरूप नहीं है। यह आपके पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, महिमा और सम्मान के सर्वथा विरुद्ध है। किसी बुद्धिमान् अन्य व्यक्ति को आप दूत बना कर कौरवों के पास भेजें।'

इस पर मेघ गम्भीर वाणी में भगवान् वासुदेव बोले—'राजन्! आप यह कैसी बातें कह रहे हैं? अपने काम में कहीं प्रतिष्ठा देखी जाती है? अपने शरीर के मल-मूत्र को धोने में क्या कोई अपमान समझता है। ये बातें तो अन्य लोगों के सम्बन्ध मे सोची जाती हैं। आपका काम, मेरा काम है। यदि मैं सन्धि करा सका, तो संसार में मेरी बड़ी कीर्ति होगी, मुझे पुण्य प्राप्त होगा और सबसे बड़ा पुण्य मैं यही समझता हूँ कि आप प्रसन्न होंगे। मैं आपकी प्रसन्नता के लिये सब कुछ कर सकता हूँ, दहकती हुई अग्नि में भी हँसते-हँसते कूद सकता हूँ।'

सिसकियाँ भरते हुए आपके ज्येष्ठ पितामह धर्मराज युधिष्ठिर बोले—'वासुदेव! इतनी भक्तवत्सलता आपके ही

अनुरूप है। हे प्रभो! अब मैं कुछ भी नहीं कह सकता। आप को जो उचित जान पड़े वही करें। आप जो करेंगे, उसी में हमारा कल्याण होगा!'

धर्मराज की ऐसी बात सुनकर कंसनिषूदन भगवान् गरुड़ध्वज हस्तिनापुर चलने के लिये तैयार हुए। स्नान करके वे नित्य कर्मों से निवृत्त हुए। वेदज्ञ ब्राह्मणों ने आकर उनका स्वस्त्ययन किया। भगवान् ने भी हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और वृद्ध ब्राह्मणों की चरणधूलि मस्तक पर रख कर, उनसे अपने कार्य की सिद्धि के लिये आशीर्वाद लिया। धर्मराज, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी अश्रु भरे नेत्रों से निहारते हुए उन्हें घेर कर खड़े हो गये। भगवान् ने सब को सान्त्वना देते हुए कहा—"आप सब घबड़ावें नहीं। मैं वही कार्य करूँगा, जिससे धर्मराज युधिष्ठिर इस समस्त वसुन्धरा के एक छत्र सम्राट् हो सकें। मैं महाराज पाण्डु के ज्येष्ठ श्रेष्ठ, गुणी और धर्मात्मा पुत्र को सम्राट् पद पर अभिषिक्त करके ही चैन लूँगा। जब तक कुन्तीनन्दन राज्य सिंहासन पर आसीन न हो जाँयगे, तब तक मुझे कुछ भी अच्छा न लगेगा।'

आँसू बहाते हुए द्रौपदी ने कहा—'प्रभो! सन्धि करते समय मेरे इन खुले बालों को न भूल जायँ। भक्तवत्सल? चीर बन कर आपने जो मेरी द्यूत सभा में रक्षा की थी और मुझसे वेणी बाँधने का आग्रह किया था। उस समय की मेरी की हुई प्रतिज्ञा का हे सर्वान्तयामी! आप स्मरण रखें।'

कुछ खीजते हुए भगवान् ने कहा देवि! तुम मुझे वे बातें चलते समय स्मरण न दिलाओ, ये सब बातें शूल की

तरह से मेरे हृदय में चुभी हुई हैं।' इतना कहकर वासुदेव ने धर्मराज की वन्दना की और लोगों ने उन्हें प्रणाम किया और वे अपने दिव्य रथ पर जा बैठे। सात्यकि उनके समीप बैठे। सारथि ने रथ हाँक दिया और रथ घर-घर शब्द करता हुआ चल पड़ा। भगवान् की विशाल गरुड़ की ध्वजा वायु में उसी प्रकार चंचल होने लगी, जैसे विषय भोगों की सामग्रियों के सामने आने से कामियों का चित्त चंचल होने लगता है।

इधर जब धृतराष्ट्र ने, सन्धि-दूत बनकर भगवान् के शुभागमन का सम्वाद सुना, उनका चित्त बहुत चंचल हुआ। भीष्म, द्रोण तथा विदुर की सम्मति से उन्होंने भगवान् का अभूतपूर्व स्वागत करने का निश्चय किया। हस्तिनापुर की समस्त सड़कें सुन्दर सामग्रियों से सजाई गईं। स्थान-स्थान पर वन्दनवार और तोरण लटकाये गये। चौराहों पर धूप और अगुरु आदि सुगन्धित द्रव्य जलाये गये। सर्वत्र सुगन्धित पुष्पों की मालायें लटकाई गईं। बड़े-बड़े विशाल फाटक बनाये गये। नगर के मुख्य-मुख्य पुरुष भीष्म द्रोण, अश्वत्थामा भूरिश्रवा, धृतराष्ट्र के सभी पुत्र उन्हें लेने के लिये नगर से बाहर गये। भगवत् दर्शनों की उत्कण्ठा से नगर के आबाल वृद्ध पुरुष अपने-अपने घरों से निकल कर भगवान् की सवारी के दर्शनों को दौड़ गये। राज-पथ के दोनों ओर के बने महलों की छतें नगर की नारियों के बोझ से हिलती-डुलती सी दिखाई देने लगीं। इस प्रकार सजी-बजी समृद्धि शालिनी नगरी में भगवान ने उसी प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार विवाह के समय वर श्वसुर के घर में प्रवेश करता है।

आगे बढ़ कर सबने भगवान् का स्वागत किया। भगवान् ने बड़े बूढ़ों और पूज्य पुरुष को प्रणाम किया तथा छोटे

लोगों ने उन्हें प्रणाम किया। सबसे यथायोग्य मिल भेंट कर अब भगवान् की सवारी राज-पथ की ओर चली। सड़कें सब दर्शनार्थी स्त्री-पुरुषों से भरी हुई थीं। कुलीन स्त्रियाँ अटारियों पर चढ़कर भगवान के दर्शन कर रहीं थीं और उनके ऊपर फूल बरसा रहीं थीं। अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से सजी हुई छोटी कन्याओं ने भगवान् को मालायें पहिनाई उगे हुए जव के अंकुरों को उनके मस्तक पर चढ़ाया और लावा-बताशों की उनके ऊपर वृष्टि की। इस प्रकार सभी से सत्कृत होकर भगवान् धृतराष्ट्र के राज-भवन में गये। तीन ड्योढ़ियों में भगवान् सवारी से ही पधारे। तीसरी ड्योढ़ी के अन्त में—राजसभा के भवन पर—भगवान् अपने विशाल रथ से उसी प्रकार उतरे, जिस प्रकार इन्द्र अपने दिव्य रथ से उतरते हैं। खड़े होकर धृतराष्ट्र ने उसका स्वागत-सत्कार किया पुरोहितों ने महाराज की ओर से भगवान् की राजसी सामग्रियों से पूजा की। नाना भाँति के व्यंजनों को उनके सम्मुख उपस्थिति किया। उन्होंने शास्त्रीय ढंग से साधारण पूजा को तो स्वीकार किया, किन्तु उन व्यंजनों की ओर दृष्टि भी नहीं डाली। भोजन का समय हो रहा था, दुर्योधन ने भगवान् को भोजन के लिए निमन्त्रित किया; किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार ही नहीं किया। वे उठ कर अपने रथ पर आ चढ़े और सारथि से बोले—'रथ को हाँको।' सात्यकि जी ने पूछा—'प्रभो! कहाँ चलना होगा?'

भगवान् ने गंभीरता के साथ कहा—'विदुरजी के घर चलो।' रथ उधर ही चलने लगा। सर्वत्र सन्नाटा छा गया। कुछ लोग रथों पर चढ़ कर भगवान् के रथ का अनुगमन करने लगे। तब भगवान् ने कहा—'मेरे साथ किसी के आने की

आवश्यकता नहीं। इस समय मैं विदुरजी के घर जा रहा हूँ। मध्याह्नोत्तर मुझसे लोग मिल सकेंगे, भगवान् की आज्ञा पाकर सभी लोग लौट गये। भगवान् का रथ विदुरजी के घर के सामने आकर ठहर गया। विदुरजी उस समय घर पर नहीं थे। घर के भीतर विदुरानीजी अकेली थीं। उस समय वे श्री गंगाजी की परम पावन गंगारज लगाकर अपने बालों को धो रही थी। राजन्! उस समय सभी बड़े बड़े घर की स्त्रियाँ भी गंगारज से ही अपने सुन्दर बालों को धोती थीं! अब तो कुछ लोग तैल, सोडा, आटा, तथा और भी कई सुगन्धित द्रव्य मिलाकर एक पिंड बना कर उससे सिर धोते हैं। झाग निकलने से उससे मल तो निकलता है, किन्तु वह बालों के लिये, चर्म के लिये और मस्तिष्क के लिये हानिप्रद होता है। बालों में उससे अत्यन्त रूक्षता बढ़ जाती है, चर्म पर घिसने से स्वाभाविक सुन्दर चर्म की प्राकृतिक स्निग्धता नष्ट हो जाती है, दो दिन न लगाओ, तो चेहरा अत्यन्त तेजहीन रूखा-रूखा प्रतीत होगा। इतनी रूक्षता बढ़ जाती है, कि उसके लगाने के अनन्तर तैल आदि स्निग्ध पदार्थ का लगाना अनिवार्य हो जाता है, किन्तु गंगारज स्वास्थ्य के लिये; मैल निकालने के लिए और चर्म के लिये अत्यन्त ही हितकर है। गंगाजी की रज में इतनी स्वाभाविक चिकनाहट होती है, कि बालों को तथा शरीर को कोमल बना देती है, उसे लगाने के अनन्तर तैल की आवश्यकता ही नहीं, रूक्षता होती ही नहीं। शरीर के मल को तो साफ करती ही है, हृदय के मल को भी धोती है। चर्म का सौन्दर्य बढ़ता है। ऋषि मुनियों का मुखमंडल गंगारज लगाने से ही कितना चमकता रहता है, उनकी जटायें केश कितने स्वच्छ रहते हैं! जहाँ गंगारज न मिले, वहाँ श्रीप्रह्लाद

जी के जन्म-स्थान मुलतान की मृत्तिका (मुलतानी मिट्टी) लगानी चाहिये, क्योंकि वह भूमि भक्तप्रवर प्रह्लादजी के पाद पद्म पड़ने से परम पावन बन चुकी है। बिना महत् पाद-रजोभिषेक के मन का मल दूर होता ही नहीं, अतः गंगारज के अभाव में भक्त पादरज को लगाना श्रेष्ठ है। मूल स्थान की मृत्तिका तैल के समान चिकनी होती है। गरमी, फोड़ा, फुन्सी सभी का नाश करती है। उसे लगाकर तैल आदि न भी लगावें तो कोई हानि नहीं।

प्राचीन काल में सिर धोने की प्रथा यह थी, कि पहिले सिर को गंगारज या मूल स्थान की मृत्तिका अथवा और किसी स्वच्छ जलाशय की मृत्तिका से मलकर साफ करते थे। जब सब मिट्टी बालों से निकल जाती, तो उनमें भिगोये हुए आँवलों का जल डालते। आयुर्वेद शास्त्र मे आँवले से बढ़कर दूसरा कोई रसायन नहीं। धर्म शास्त्र में आँवले से बढ़कर कोई फल नहीं। कैसा भी पापी क्यों न हो, यदि वह आँवले के नीचे मर जाता है या एक आँवला खा लेता है, तो उसकी दुर्गति नहीं होती, सीधा स्वर्ग चला जाता है। आँवलों के जल से जब केश मुलायम हो गये, तो फिर धोकर उसमें भाँति-भाँति के सुगन्धित द्रव्य डाल कर कंघा से काढ़ते और अगरु के धुएँ से सुखाते हैं इससे वे सुगन्धित भी हो जाते हैं और सफेद भी नहीं होते, फिर सौभाग्यवती स्त्रियाँ उन्हें भाँति-भाँति से सजा कर शृंगार करती थीं।

हाँ तो, विदुरानीजी उस समय गंगारज लगाकर बालों को मल रही थीं। शरीर में भी सर्वत्र गंगारज पोत रखी थी जिससे शरीर निर्मल हो जाय। स्त्रियों की आदत होती है,

एकान्त में—निर्जन-स्थान में—पर्दा कर के प्रायः नग्न ही नहाती हैं। विदुरानीजी भी नग्न होकर ही मिट्टी मल रही थीं। उसी समय श्यामसुन्दर ने पुकारा—"विदुरजी! विदुरजी! किवाड़ खोलिये!" भीतर से कोई उत्तर नहीं मिला। फिर भगवान् ने जोर से पुकारा—'विदुरजी घर में नहीं हैं, तो विदुरानीजी तो होंगी ही?'

अब विदुरानीजी के सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हुए। वे वाणी पहिचान गईं। अहा! ये तो श्यामसुन्दर हैं। मेरे नन्दनन्दन यहाँ कहाँ? वे कब पधारे, कल कुछ सुनाई तो पड़ा था, घनश्याम इस रूखी भूमि हस्तिनापुर में अमृत की वृष्टि करने उमड़ेंगे घुमड़ेंगे। इन विचारों में विदुरानी अपने शरीर की सुधि भूल गईं। वे भगवान् वासुदेव के प्रेम में इतनी मग्न हुईं, कि उनकी वृत्ति प्रकृति से परे पहुँच गई। उन्हें यह भान ही न हुआ कि मैं नग्न हूँ, स्नान कर रही हूँ। यन्त्र की भाँति उठीं और झट किवाड़ खोल दिये।

भगवान् वासुदेव उनकी ऐसी दशा देख कर सहम गये। उन्होंने अपना पीताम्बर उन्हें उढ़ा दिया और कमर का फेंटा खोल कर उससे उनके शरीर को कस दिया। उनको होश नहीं, शरीर की सुधि नहीं, जगत् का मान नहीं, प्रेम में पगली हुई, प्रणाम करना भी भूल गई। क्या कहना चाहिये, कहाँ बिठाना चाहिये? इन सब का भी उन्हें ध्यान नहीं था। सर्वान्तर्यामी प्रभु सब समझ गये और जाकर उनके घर में एक साधारण से आसन पर अपने आप बैठ गये।

राजन्! संकोच होता है दूसरों से, जिस घर को हम अपना घर समझते हैं, जिनको हम अपने निजी आत्मीय

ते हैं, यहाँ न कोई संकोच न भय। जो अपनी वस्तु है
के लिये पूछना किससे ? भगवान् बैठ गये। हक्की-बक्की बनी
दुरानी वनवारी को एक टक निहार रही थी। भगवान्
प्रता प्रकट करते हुए बोले—"विदुरानीजी ! बड़ी भूख लग
ो है, कुछ खाने को हो, तो लाओ।"

"हाय ! मेरे श्यामसुन्दर भूखे हैं। इस इतनी बड़ी राजधानी
भी किसी ने इनसे खाने-पीने की बात नहीं पूछी। इन इतने
ाथों के रहते हुए भी मेरे श्यामसुन्दर भूख से व्याकुल
। इन सबमें आग क्यों नहीं लग जाती। दौड़ी-दौड़ी
ीतर गई। आँखों की दृष्टि श्यामसुन्दर की दृष्टि में
दाकार हो गई थी। घर में रखे हुए अनेक फल-फूल भी
न्हें नहीं दीखते थे। संयोगवश एक केलों की गहर उनके
ाथों लग गई। उसी को जल्दी से उठा कर श्यामसुन्दर के
मीप आ बैठीं और केलों को छील-छील कर अपने आराध्यदेव
ो भोग लगाने लगीं। दोनों हाथ गंगारज में सने थे। बालों
े गंगारज से मिश्रित जल-कण निरन्तर टपक रहे थे।
ीच से सना पीताम्बर इधर-उधर अस्त-व्यस्त भाव से
कमर में बँधा था। वे केलों को छीलतीं, उनकी गिरी को
तो नीचे फेंकती जातीं और कीच से सने छिलकों को वे
भगवान् को देती जाती। भगवान् को तो मिट्टी खाने की आदत
बालकपन से ही है। गौओं के बछड़ों के साथ फलों के
वलकल भी उड़ा जाते थे। इसलिये यह भोजन उनके तो अनु-
कूल ही था। बच्चों की भाँति बैठे-बैठे उन छिलकों को बड़े
स्वाद से खा रहे थे।

इतने में ही कहीं यह सुनकर कि भगवान् मेरे घर की ही
ओर गये हैं, शीघ्रता से दौड़ कर विदुर जी घर आये। द्वार

पर देखा गरुड़ध्वज रथ खड़ा है। वे हर्ष, विस्मय, लज्जा से दबे से शीघ्रता पूर्वक घर में घुसे। वहाँ जाकर जो कुछ देखा, उसे देख कर तो वे सन्न रह गये। जल्दी से विदुरानी के हाथ को जोर से पकड़ कर बोले—"अरे, हट पगली। तेरा तो मस्तिष्क खराब हो गया है। न शरीर की सुधि न कर्तव्या-कर्तव्य का ज्ञान। भाग यहाँ से!"

अब विदुरानीजी को बाह्य ज्ञान हुआ। हाय! मैंने यह क्या किया? जल्दी से घर में घुस गईं। किवाड़ बन्द करके अत्यन्त दुखी होकर आँसू बहाने लगीं।

इधर भगवान् हाथ पसारे हुए थे। विदुरजी ने शीघ्रता से हाथ पैर धोये, आचमन किया, केलों को धोया और उन्हें छील कर भगवान् के पसरे हुए श्री हस्त पर रखा। भगवान उसे चट मुँह में डाल गये, फिर हाथ किया। विदुर ने फिर दिया। उसे खाकर रुक गये और बोले—"विदुरजी! आप बुरा न मानें तो एक बात कहूँ?"

विदुरजी ने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो! अपने सेवकों से ऐसे पूछा जाता है क्या? आज्ञा कीजिये, महाराज! मुझे तो कुछ पता नहीं था। आप मुझ दीन-हीन की कुटी को इस प्रकार पवित्र करेंगे?"

बीच में ही बात काटते हुए श्यामसुन्दर बोले—"हाँ, सो तो सब ठीक ही है, किन्तु मैं दूसरी बात कह रहा था। ये केले बड़े सुन्दर हैं और आपके प्रेम के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। किन्तु सच्ची बात यह है, कि जो स्वाद मुझे छिलकों में आ रहा था, वह इन केलों की गिरियों में नहीं आया।"

इतना सुनते ही विदुरजी की आँखें बहने लगीं। अब उन्हें

ज्ञान हुआ। अरे, मेरी पत्नी भूल नहीं कर रही थी'। मैं ही भूला हुआ था। ये सम्पूर्ण विश्व को तृप्त करने वाले वासुदेव इन केलों से क्या सन्तुष्ट हो सकते हैं? इन्हें कोई क्या खिलाकर तृप्त कर सकता है। ये तो सदा भाव के भूखे रहते हैं। अपनी स्त्री के बराबर प्रेम मुझमें कहाँ है, ऐसा निष्कपट लोकोत्तर भाव मुझमें कहाँ से आ सकता है? उन्होंने भूमि में लोटकर भगवान् को प्रणाम किया और गद्गद् कण्ठ से बोले—'हे भक्तवत्सल! आप में प्रेम किसी साधन से नहीं हो सकता। आप जिस पर कृपा करें, जिसे अपनावें वही आपके प्रेम का भाजन बन सकता है। मैं अधम इस योग्य कहाँ था कि आप का आतिथ्य कर सकूँ। आप पदार्थों से प्रसन्न होने वाले होते, तो दुर्योधन के राजभवन मे पदार्थों की क्या कमी थी? आप कृपा करके जिसे अपना लें, वही आपके अनुग्रह का पात्र बन सकता है।'

भगवान् हँसते हुए बोले—विदुरजी! आप तो हमारी आत्मा ही हो। अपना घर न समझता, तो मैं इस प्रकार तुम्हारे न रहते हुए भी बिना रोक टोक भीतर क्यों चला आता?

भगवान् के ऐसे स्नेह भरे वचनों को सुनकर विदुरजी बड़े सन्तुष्ट हुए। उन्होंने अनेक प्रकार के व्यंजनों से भगवान् का और उनके साथियों का सत्कार किया। भगवान् ने ब्राह्मणों और अतिथियों को भोजन कराके पीछे सब के साथ प्रेम पूर्वक प्रसाद पाया।

सो राजन्! जिस घर में बिना बुलाये ही श्यामसुन्दर पधारे थे, जिसमें उनके चरण का धोवन जल छिड़का गया था, जहाँ उनके जगत्वन्द्य पाद-पद्म पड़े थे, जहाँ की भूमि उनकी ऋषि-मुनि वन्दित चरण धूलि से पावन हुई थी, विदुर

जी उसी भूमि में नित्य लोटते थे और उस रज के स्पर्श से उनके शरीर में रोमांच होते थे। उसी घर को दुष्टों के दुर्व्यवहार से वे त्याग वन को चले गये। उसी प्रभु पद-रज से तीर्थ वने गृह को उन्हें अनिच्छा पूर्वक त्यागना पड़ा। उसी यात्रा में उनकी भगवान् मैत्रेयजी से भेंट हुई।'

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! मुझे भगवान् मैत्रेय के साथ जो विदुर जी का सम्वाद हुआ, उसका पूरा वृत्तान्त सुनाइये। विदुरजी और मैत्रेयजी की कहाँ पर कैसे भेंट हुई? हस्तिनापुर से निकलते समय या लौटते समय, कब उन दोनों का सम्वाद हुआ? विदुरजी ने उनसे क्या प्रश्न किये? उन्होंने उनका क्या उत्तर दिया? इन सब बातों को सुनने का मुझे बड़ी लालसा हो रही।"

श्रीशुक ने पूछा—"राजन्! आप उनका ही सम्वाद सुनने को इतने लालायित क्यों हैं?"

इस पर राजा बोले—"भगवन्! महामुनि मैत्रेय ज्ञान के निधि हैं—भक्ति के भंडार हैं। ऐसा मैं सभी के मुख से सुनता आ रहा हूँ। महात्मा विदुरजी के सम्बन्ध में तो कुछ पूछना ही नहीं उनकी प्रशंसा उनकी भगवत् भक्ति की बातें तो मैंने माता के स्तन पान से साथ ही साथ कर्ण रूपी पान-पत्रों से पान की हैं। इस लिए इन दोनों परम भागवतों का जो सम्वाद हुआ होगा वह अल्प आशय वाला न होगा, वह अवश्य ही अत्यन्त ही महत्व पूर्ण हुआ होगा, जिसका बड़े-बड़े महात्माओं ने भी अनुमोदन किया होगा।"

सूतजी कहते हैं मुनियो! महाराज परीक्षित् ने जब में गुरुदेव से ये प्रश्न पूछे तब उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता प्रक

करते हुए पृथ्वीपाल की प्रशंसा की और उनके प्रश्नों का उत्तर देने को प्रस्तुत होकर बोले—"अच्छी बात है राजन्! मैं आपको यह सम्वाद सुनाऊँगा। आप दत्तचित्त होकर सावधानी के साथ श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

छप्पय

राजन्!—बनि के दूत देवकीनन्दन आये।
कौरव करि सत्कार राज महलनि महँ लाये॥
नाना व्यंजन धरे न तिनकी ओर निहारे।
करिकें शिष्टाचार विदुर के भवन सिधारे॥
पत्नी पगली प्रेमकी, छिलका हरिहिँ जिमा रही।
विदुर मिंगी केला दई, खाइ कही वो रस नहीं॥

श्रीविदुरजी की धृतराष्ट्र को शुभ सम्मति

(१०१)

यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो—
मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन ।
अथाह तन्मन्त्रदृशां वरीयान्,
यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति ॥*

(श्री भा० ३ स्क १ अ० १० श्लो०)

छप्पय

ता घर महँ बसि विदुर बन्धुकूँ सम्मति देवें ।
विदुर नीति विख्यात जाहि सज्जन सब सेवें ॥
पूछी जब धृतराष्ट्र सत्य सम्मति यह दीन्हीं ।
राजन् ! घोर अनीति बन्धु पुत्रनि सँग कीन्ही ॥
भ्राता ! भूलो गई जो, आगे की सोचो सई ।
धर्मराज के राज कूँ, देहु गई सो तो गई ॥

जीव अल्पज्ञ है। संसार से सम्बन्ध हो जाने के कारण जीव सदा शंकित बना रहता है। यदि ऐसा हो जायगा, तो हमारा काम कैसे चलेगा ? उसने हमें निकाल दिया, तो हमारी

---

* श्रीशुक कहते हैं—"राजन् ! अब विदुरजी को उनके बड़े भाई धृतराष्ट्र ने सम्मति लेने के लिए बुलाया, तब सम्मति देने वालों में सर्व

क्या दुर्दशा होगी ? उनसे सम्बन्ध विच्छेद हो गया, तो जीवन दुखःमय ही बन जायगा। वहाँ मेरा अपमान हुआ तो मरण ही हो जायगा। ये सब विचार जीव के मन में तभी आते हैं, जब वह अपने को स्वतन्त्र कर्ता समझता है, इस प्रपञ्च का अपने को नियामक समझता है। जो भगवत् भक्त अपने को कर्ता नहीं मानते—केवल अपने को जो श्यामसुन्दर का यन्त्र समझते हैं, जिनका यह दृढ़ निश्चय है, कि इस जगत् रूपी नाट्यशाला के सूत्रधार सर्वेश्व भगवान् वासुदेव हैं, उनका शिवस्वरूप है, कल्याण के वे धाम हैं, आनन्द के वे घनी भूत विग्रह हैं, उनके सभी विधान कल्याण के ही लिये हैं, जीवों से वे जो भी कार्य कराते हैं, एक दूसरे से मिलाते और बिछुड़ाते हैं, इन सब में उन्होंने प्राणियों का हित ही सोच रखा है। हाँ, अहित की बात तो वे कभी करते ही नहीं। क्योंकि अहित का तो उनके समीप अभाव है, जो वस्तु जिसके समीप है ही नहीं, वह दूसरों को उसे देगा ही कहाँ से। ऐसे भक्त किसी भी दशा में रहें, कहीं भी रहें, कैसे भी वेप में रहें, किसी भी देश में रहें, सर्वत्र मग्न रहते हैं, क्योंकि उनके श्यामसुन्दर, उन्हें जैसा नाच-नचाते हैं वे वैसा ही नाच नाचते हैं। अबोध बालक को माता-पिता जहाँ बिठा देते हैं, बैठ जाता है, जहाँ ले जाते हैं चला जाता है, उसे अपने कल्याण की चिन्ता स्वयं नहीं है। उसका भार तो जनक जननी पर है। वह तो रोना, हँसना, मग्न होना तथा क्रीड़ा

श्रेष्ठ समझे जाने वाले—विदुरजी राज भवन में गये। अन्धे राजा के पूछने पर उन्होंने ऐसी सुन्दर सम्मति दी, जिसे राजनीति को जाननेवाले पुरुष इस समय तक भी 'विदुरनीति' कह कर पुकारते हैं।"

करना यही जानता है। विदुरजी जब हस्तिनापुर में राज्य
प्रधान मन्त्री बन कर रहे, तब उन्हें कोई अभिमान नहीं था
जब वे भिक्षुक होकर वन को चले गये, तब कोई शोक
यही सब विचार कर श्रीशुक ने कहा—"राजन्! विदुरजी
जब दुष्टों ने राजधानी छोड़ने को विवश किया तो वे अप
कुटुम्ब, परिवार, गृह आदि के मोह को छोड़ कर उसी प्रकार
से चले गये, जैसे बटोही दूसरे दिन बिना मोह-ममता के धर्मशा
को छोड़ कर चल देता है।"

यह सुनकर महाराज परीचित् ने पूछा—"प्रभो! यह कि
समय की बात है? सुना है, कि मेरे पितामहों के भी पि
श्रीधृतराष्ट्रजी तो विदुरजी से बड़ा स्नेह करते थे। वे उनसे पू
कर ही समस्त कार्य करते थे। उन्होंने अपने इतने प्यारे बुद्धिम
भाई को घर से क्यों निकाल दिया? किस अपराध पर उन्हें दे
निकाला दे दिया?"

इस पर श्रीशुक बोले—'हे कुरुकुलतिलक राजन्! भा
बड़ा बलवान् है, जहाँ का जिस समय अन्न जल बदा होता है, उ
समय वहाँ जाने को वैसी ही सबकी बुद्धि हो जाती है, धृतरा
ने स्वयं तो निकल जाने को कहा नहीं था, किन्तु उनका दुष्ट पु
दुर्योधन ही सब हत्या की जड़ था। उसी ने तुम्हारे पितामहों
साथ घोर अन्याय किये। धृतराष्ट्र ने पुत्र के वशीभूत होकर उस
अन्याय कार्यों का भी समर्थन किया। विदुरजी का अपमा
करते हुए अपने पुत्र को नहीं रोका इसीलिये विदुरजी चले ग
कि इस अंधे की सम्मति से ही सब हो रहा है। इसलिये यह
रहना ठीक नहीं।

राजन! जब तुम्हारे पाँचों पितामह पितृहीन हो गये
महाराज पांडुके परलोक पधारने के अनन्तर ऋषि-मुनि उन

पांडु पुत्रों को धृतराष्ट्र को सौंप गये, तभी से दुर्योधन के मन में द्वेष का अंकुर उत्पन्न हुआ। पापी सदा डरता रहता है, न्यायतः दुर्योधन राज्य सिंहासन का अधिकारी नहीं था। उसकी बात तो अलग रही, अंधे होने के कारण उसके पिता धृतराष्ट्र भी नियमानुसार राजा नहीं हो सकते थे। राज्य के अधिकारी तो महाराज पांडु ही थे। वे स्वेच्छा से राजकाज अपने बड़े अंधे भाई को सौंपकर वन में चले गये थे। वे धृतराष्ट्र को राजा नहीं बना गये थे। न्याय की भाँति—धरोहर के रूप में—वे कुछ दिन के लिये राज्य उन्हें सौंप गये थे।

महाराज के स्वर्ग पधारने के अनन्तर उनके ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र धर्मराज ही राज्य के एक मात्र अधिकारी थे, किन्तु पिता के अंधे होने के कारण राज्य पर अधिकार दुर्योधन ने जमा रखा था। इसीलिये वह पांडवों को अपने राजा होने में कंटक समझता था। वह रात्रि-दिन यही सोचा करता था, किस प्रकार इन पांचों पांडवों का प्राणान्त करके—मैं निष्कंट राज्य का अधिकारी बन सकूँ ? किस प्रकार अपने हृदय में रखे इन पाँचों शूलों को निकाल कर सुख की नींद सो सकूँ। वह रात्रि-दिन पांडवों के विनाश की ही बात सोचा करता था। यद्यपि धृतराष्ट्र मन से यह नहीं चाहते थे, कि पांडव मारे जायँ, या इन्हें निर्वासित कर दिया जाय; किन्तु पुत्र-स्नेह के कारण वे कुछ कह नहीं सकते थे। दुर्योधन जब रोकर उनसे पांडवों के विनाश की सम्मति लेता तो इच्छा न रहने पर भी पुत्र को प्रसन्न करने के निमित्त वे ऐसा करने की अनुमति दे देते थे। राजन्! पुत्र-स्नेह ऐसा ही होता है, मोह में फँसकर बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। विदुरजी धर्मात्मा थे। वे समझते थे, कि दुर्योधन पांडवों के साथ अन्याय कर रहा

है, इसलिये वे सदा पांडवों का पक्ष लेते। सब प्रकार से पांडवों को संकटों से बचाते, उन्हें शुभ सम्मति देते और उन्हीं के कारण अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठ भाई को भी निर्भीक होकर डाँटते-डपटते रहते।

विदुरजी धृतराष्ट्र के प्रधान मंत्री थे। धृतराष्ट्र उनके बिना पूछे कोई काम नहीं करते थे। विदुरजी भी बिना चापलूसी के जो सत्य बात होती, उसे निर्भय होकर सबके सामने कह देते। दुर्योधन सब समझता था, कि विदुरजी का झुकाव पूर्णतया पांडवों की ओर है, वे शरीर से तो हमारी ओर हैं किन्तु मन उनका पांडवों के साथ है। इसलिये दुर्योधन ने उन्हें अपना मन्त्री नहीं माना। उसने अपने अनुकूल दुःशासन, शकुनि और कर्ण को अपना मन्त्री बनाया। ये सब उस दुष्ट की सदा चापलूसी करते रहते और उनकी हाँ-में-हाँ मिलाते रहते। इन्हीं सबकी सम्मति से दुर्योधन ने गंगा किनारे अपने राज्य की सीमा पर वरणावत नाम के नगर में लाख का एक घर बनवाया। उन सबने यह षड्यन्त्र रचा था, कि जब पाँचों पांडव अपनी माता के सहित उस घर में सुख से सोते रहेंगे, उसी समय उस घर में आग लगा दी जायगी। जिससे सब उसी में जलकर भस्म हो जायँगे। ऐसा करने से 'साँप मरेगा न लाठी टूटेगी', बदनामी भी न होगी, हम निर्दोष भी बने रहेंगे और शत्रुओं का भी बिना परिश्रम के संहार हो जायगा। किन्तु उनकी यह मन्त्रणा किसी प्रकार विदुरजी को मालूम हो गई। उन्होंने उस घर में एक गुप्त सुरंग खुदवा दी और एक नौका भेजकर उस सुरंग द्वारा निकालकर पांडवों को गंगा पार पहुँचाने की व्यवस्था कर दी। विदुरजी की बुद्धिमानी से पांडव सकुशल बच गये और वेष बदल कर भिक्षा

पर निर्वाह करते हुए वन-वन भटकते रहे। जब द्रौपदी के साथ उनका विवाह हो गया, तब बहुत कहने-सुनने पर इन्हें आधा राज्य देकर इन्द्रप्रस्थ में भेज दिया। वहाँ पांडव अपनी पृथक् राजधानी बनाकर सुखपूर्वक राज्य करने लगे। धृतराष्ट्र को यह सब पता था कि उसके पुत्र पांडवों को मारने का षड्यन्त्र रच रहे हैं, किन्तु उन्होंने अधर्मी पुत्र के मोह के कारण उसे पाप से बरजा नहीं।

इन्द्रप्रस्थ में धर्मराज के राजसूय यज्ञ के समय उनकी अनुपम श्री और अतुल वैभव को देखकर जब दुर्योधन ईर्ष्या के कारण जलने लगा और उन्हें राज्य-भ्रष्ट करने के लिए उसने जुआड़ियों की मंडली जुटाई तब भी धृतराष्ट्र ने उसे रोका नहीं। जुए के अनर्थ को जानते हुए भी आज्ञा दे दी। यही नहीं, जब अधर्म पूर्वक शकुनि आदि धूर्त जुआरी साधु स्वभाव, सत्यपरायण, अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर को छल रहे थे, तब भी धृतराष्ट्र ने मना नहीं किया, किन्तु बार-बार यही पूछते रहे—कौन जीता, कौन जीता? जब उनके पुत्रों की जीत होती, तो प्रसन्नता से उनका मुख खिल उठता।

दुष्टों ने छल से उनका सर्वस्व जीत लिया। उन्हें राजभ्रष्ट करके तेरह वर्ष के लिये वन को भेज दिया। अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करके धर्मात्मा युधिष्ठिर जब वन से लौटे और अपना पैतृक राज्य माँगा, तब भी उनका राज्य नहीं लौटाया गया! पुत्र मोह से वशीभूत हुए महाराज धृतराष्ट्र ने पुत्र की हाँ-में-हाँ ही मिलाई। धर्मराज का न्यायानुकूल राज्य फिर प्रतिज्ञानुसार दिया नहीं।

धर्मभीरु सर्वशक्ति सम्पन्न महाराज युधिष्ठिर युद्ध करना नहीं चाहते थे, इसीलिये वे सबको क्षमा करते रहे। उन्होंने

कौरवों के महान् से महान् अपराधों को क्षमा कर दिया। नहीं तो ऐसा कौन मनस्वी पुरुष होगा, जिसकी सती साध्वी प्राण प्रिया धर्मपत्नी को शत्रु भरी सभा में नंगी करने का प्रयत्न करे और वह उनके उन हाथों को शक्ति रहते जलाने का प्रयत्न न करे। जिस समय अपने आँसुओं से वक्षःस्थल को भिगोती हुई कृष्णा विलाप कर रही थी, उस समय भी अंधे राजा ने अपने पुत्रों को इस क्रूर कर्म से नहीं रोका। इस सब को भुलाकर धर्मराज सन्धि करना चाहते थे। वे पूरा राज्य भी नहीं मागते थे पाँच गाँवों को ही लेकर सन्तुष्ट हो जाना चाहते थे। वे सर्वप्रयत्नों से अपने कुल के नाश को बचाने के लिये लालायित थे। इसीलिये उन्होंने द्वारकाधीश भगवान् वासुदेव को अपना सन्धिदूत बनाकर हस्तिनापुर भेजा। भगवान् ने भी वहाँ जाकर शान्ति के समस्त प्रयत्न किये। प्रेम से, नीति से भय दिखाकर, धमका कर, अपने आत्मीय की भाँति दुर्योधन को अपने अमृतोपम वचनों से विविध प्रकार से समझाया बुझाया किन्तु उसने भगवान् की एक भी बात नहीं मानी। उलटे उन्हें कैद कर लेने की मन्त्रणा की।

"जब धर्मराज ने देखा, किसी भी प्रकार शान्ति नहीं हो सकती। तब तो उन्हें विवश होकर भगवान् की सम्मति से युद्ध करने का ही निश्चय करना पड़ा। युद्ध होगा—इस बात को सुनकर अब धृतराष्ट्र घबड़ाये और उन्होंने अपने छोटे भाई सम्मति देने में सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान—विदुरजी को बुलाया और कहा—भैया, विदुर! मैं चाहता था—भाई भाइयों में युद्ध न हो। शान्ति से सब काम हो जाय, किन्तु मुझे शान्ति होती हुई दिखाई देती नहीं। इससे मेरा चित्त बड़ा घबड़ा रहा है। तुम अब कोई उपाय बताओ जिससे मेरी घबड़ाहट दूर हो जाय।

अपने ज्येष्ठ भाई की ऐसी बात सुनकर धर्मावतार विदुर ने निर्भीक होकर सब के सामने कहा—"राजन्! यह सब दोष आपका ही है। ये सब आपके ही बोये हुए बीज हैं। आप यदि दुर्योधन की दुष्टता का समर्थन न करते, तो आज ये दिन देखने को न मिलते। पांडवों के साथ जितने अन्याय हुए हैं, उन सब का उत्तरदायित्व आपके ही ऊपर है। आपने ही उन्हें भाँति-भाँति के उपायों से मरवा डालने का प्रयत्न किया।'

इस पर धृतराष्ट्र ने कहा—'भैया, विदुर! अरे तू भी ऐसी बातें कहेगा क्या? मैंने कब पांडवों को मारने की सलाह दी? मैं तो उन्हें अपने पुत्रों की तरह मानता हूँ। ये सब उत्पात तो मेरे दुष्ट पुत्र दुर्योधन के ही किये हुए हैं।'

यह सुनकर विदुरजी बोले—'नहीं, महाराज! यह बात नहीं हो सकती। दुर्योधन कौन होता है? जब तक आप जीवित हैं, दुर्योधन का कोई अधिकार नहीं। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार पिता के जीते पुत्र का, पति के जीते पत्नी का, कोई स्वत्व नहीं। आप इसे डाँटते-डपटते नहीं। इसकी हाँ-में-हाँ मिलाते रहते हैं इसीलिये यह इतना सिर पर चढ़ गया है।'

जब धृतराष्ट्र ने कहा—'अब, भैया! तुमही बताओ—मैं क्या करूँ? किस प्रकार यह झगड़ा शान्त हो। तुम तो नीति-शास्त्र के पंडित हो।'

इस पर विदुरजी बोले—'हाँ महाराज? मैं बताता हूँ आप मेरी बात मानिये। सब लड़ाई झगड़ा शान्त हो जायगा। आप *अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर को उनका भाग दे दें।*

इस पर धृतराष्ट्र बोले—'भैया ! दे तो दूँ, किन्तु हमने तो उनके साथ बड़े बड़े अपराध किये हैं। राज्य पाकर वे उन सब अपराधों के कारण कुपित होकर मेरे पुत्रों से बदला लेंगे, इन्हें मार डालेंगे।'

यह सुनकर अपनी बात पर बल देते हुए विदुरजी बोले—'नहीं राजन्! धर्मराज बड़े धर्मात्मा हैं। अब तक जैसे वे तुम्हारे सभी अपराधों को क्षमा करते आये हैं, वैसे ही आगे भी आपके पुत्रों को वे अपना भाई समझ कर क्षमा ही करते रहेंगे और यदि अपने लोभवश उन्हें उनका भाग नहीं दिया, तो धर्मराज तो साधु स्वभाव के हैं। किन्तु भीमसेन मानने वाले नहीं हैं। वे चुन-चुन कर आपके सभी पुत्रों की खोपड़ियों को उसी प्रकार फोड़ेंगे जैसे सिंह हाथियों के मस्तकों को अपने नखों से फाड़ता है।

यह सुनकर धृतराष्ट्र बोले—'विदुर ! तू भीम की इतनी प्रशंसा करके मुझे डरपाना चाहता है क्या ?

इस पर सूखी हँसी-हँस कर विदुरजी बोले—'महाराज ! मैं—क्या डरपाना चाहता हूँ, भीमसेन से आप स्वयं डरे हुए हैं। उनके डर के कारण आपको रात्रि में नींद तक नहीं आती। सभी पांडव एक से एक बली हैं। अर्जुन स्वर्ग से सभी अस्त्र-शस्त्र सीखकर सकुशल लौट आया है। नकुल, सहदेव भी कम पराक्रमी नहीं हैं। इन सब को भीम सदा उत्साहित करते रहते हैं। द्रौपदी के चीरहरण की बातें सुना-सुना कर सब के क्रोध को

बढ़ाते रहते हैं। वे सब तुम्हारे पुत्रों को मार ही डालेंगे।'

तब धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! युद्ध में विजय निश्चित नहीं। कभी-कभी बली भी हार जाते हैं, निर्बल भी हार जाते हैं। मेरे पुत्र तो बली हैं, शूरवीर हैं, अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता हैं। ११ अक्षौहिणी सेना उनके पास है। फिर तुम यह बात निश्चित कैसे कह रहे हो, कि पांडव युद्ध में मेरे पुत्रों को परास्त कर ही देंगे।'

यह सुनकर विदुरजी ने कहा—'प्रभो ! एक तो सभी पांडव स्वयं बली हैं। बली होने पर भी सन्देह किया जा सकता था, किन्तु अब तो सन्देह के लिये भी स्थान नहीं रहा। स्वयं साक्षात् भगवान् वासुदेव ने पांडवों को अपना लिया है। अब तो सन्देह की बात ही नहीं रही। भगवान् समस्त यादवों के एकमात्र आराध्यदेव हैं। उन्होंने पृथ्वी मण्डल के समस्त बली से बली राजाओं को परास्त करके द्वारका में अपना किला बनाया है और वहीं अपने समस्त बन्धु-बान्धुवों के साथ निवास करते हैं। वे देवता और ब्राह्मणों के रक्षक हैं। वे इनकी पूजा करते हैं और ये उनकी। इस प्रकार भगवान् को अपना लेने पर पांडवों की विजय निश्चित है। अतः आप उनका ही शील संकोच करके पांडवों का भाग दे दीजिये।' इस प्रकार विदुरजी ने बहुत सी धर्मयुक्त नीति की बातें कही, जो पृथ्वी में अब भी 'विदुर-नीति' के नाम से विख्यात हैं।

सूतजी कहते हैं मुनियो ! विदुरजी ने धृतराष्ट्र को बहुत समझाया, किन्तु उन्होंने उनकी एक भी बात न मानी, तब तो वे समझ गये कि इनके सिर पर काल मँडरा रहा है।

छप्पय

जिनके सिर पै श्याम तिन्हैं फिर कौन अँदेशो।
निश्चय तिनकी विजय जासु रथ हाँके केशो॥
धर्म-निति तैं डरो राज्य यह संग न जावे।
पाप पुण्य ही जाँय विपुल धन काम न आवे॥
आये मुट्ठी बाँधि के, हाथ पसारे जायँगे।
पुण्य करें सुख पायँगे, पाप करें पछितायँगे॥

दुष्ट पुत्र को त्याग देने की सम्मति

(१०२)

स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते
गृहान् प्रविष्टो यमपत्यमत्या।
पुष्णासि कृष्णाद् विमुखो गतश्री—
स्त्यजाश्वशैवं कुलकौशलाय ॥*
(श्री भा० ३ स्क० १ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

राजन्! निकसे मैल देह तें कोइ न राखे।
डींगर तन महँ होयँ तनय कोई नहिं भाखे॥
विष्ठा बहु मल-मूत्र देह ही तें नित होवें।
तन ते होवें पृथक् परसि के सब तन धोवें॥
स्वयं तरें तारें कुलहिँ, ते सतपुत्र कहावते।
नहिं तो मल के कीट सम, ऋषि-मुनि तिन्हें बतावते॥

किसी के किसी अङ्ग में कोई विषैला फोड़ा हो जाय और वह किसी भी उपाय से अच्छा न हो सके, जहरवाद होने से उसका प्रभाव दूसरे अङ्ग पर भी पड़ता हो, तो बुद्धि-

---

* महात्मा विदुरजी महाराज धृतराष्ट्र से कहते हैं—"राजन्! यदि आप कहें, कि दुर्योधन मेरी बात नहीं मानता, तो आप इस

मान् चिकित्सक उस अङ्ग को काट देने की ही सम्मति देता है। उस समय वह सम्पूर्ण अङ्ग की रक्षा के लिये एक अङ्ग का मोह नहीं करता। वह जो कहता है—धर्म समझ कर—रोगी के हित के ही लिये कहता है। उसकी बात को सुन कर भी रोगी उसे न माने और कहे—कि मैं अपने शरीर के अङ्ग को कैसे कटवा सकता हूँ, तो इसका परिणाम क्या होगा ? उसका वि सम्पूर्ण शरीर में फैल जायगा और एक अङ्ग के कारण स अङ्ग विषैले बन जायँगे। यही सब सोचकर विदुरजी इस बा पर बार-बार बल देने लगे और धृतराष्ट्र से आग्रह पूर्व कहने लगे—राजन् ! समस्त लड़ाई-झगड़े की जड़ र दुर्योधन ही है।"

इस पर धृतराष्ट्र ने धीरे से कहा—"भैया, विदुर ! मैं स जानता हूँ। इस दुर्योधन की बुद्धि विपरीत है। यह आरम्भ ही पांडवों से द्वेष करता है। उनकी बढ़ती नहीं देख सकता। स उन्हें नीचा दिखाने का प्रयत्न करता रहा है—बीच में ही व काट कर विदुरजी बोले—"हाँ, और करता रहता है, आप सम्मति से।"

अधीर होकर धृतराष्ट्र बोले—"अरे, भैया ! मैंने कब ऐ सम्मति दी है, मेरे लिये तो पाण्डु के पुत्र भी मेरे पुत्र

अमंगल रूप को अपने समस्त कुल के कल्याण के निमित्त त्याग आप इसे अपना पुत्र मान कर पाल रहे हैं, यह दुर्योधन तो मूर्तिम दोष ही है, और की बात तो अलग रही—यह साक्षात् श्रीहरि से द्वेष करता है। यदि आपने इसे नहीं त्यागा, तो इसी के कारण अ भगवत् विमुख होकर श्रीहीन हो जायँगे।"

समान हैं। यही नहीं, वे तो इस समय पुत्रों से भी बढ़ कर पालनीय हैं, क्योंकि अब उनके पिता नहीं रहे।"

विदुरजी बोले—"राजन्! भगवान् आपको सुबुद्धि दें। नन्दनन्दन श्यामसुन्दर आपके सदा ऐसे ही विचार बनाये रखें। किन्तु महाराज! आप मेरे पूज्य हैं, श्रेष्ठ हैं, ज्येष्ठ हैं, राजा हैं, मुझे आपसे ऐसी कड़ी बातें कहनी तो नहीं चाहिये, किन्तु कर्तव्य वश कहनी ही पड़ती हैं। यदि आप पाण्डवों को अपना पुत्र समझते, तो इस प्रकार उन्हें चीर-वल्कल पहिना कर बन को न भेजते। इस प्रकार उनका सर्वस्व अपहरण न करते। प्रतिज्ञा पूरी करके लौटे हुए उन धर्मात्मा पाँचों भाइयों के राज को लौटाने में आना-कानी न करते।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"देखो, भैया! तुम जान बूझकर ऐसी बातें क्यों कह रहे हो? मैंने कब कहा है, कि पांडवों के राज्य को मत लौटाओ। मैं तो इस दुर्योधन से बार-बार कहता हूँ—सब भाई मेल जोल से रहो। लड़ाई—झगड़े को समाप्त करो। वाद-विवाद की कोई बात नहीं तुम हस्तिनापुर में राज्य करो, वे इन्द्रप्रस्थ में प्रजा पालन करें, किन्तु यह मेरी बात मानता ही नहीं ·····।"

बीच में ही विदुरजी बोले—"हाँ, यह तो आपकी बात मानता नहीं, किन्तु आप उसकी सब बात मान लेते हैं, उसकी हाँ-में-हाँ मिलाते रहते हैं, उसके सभी पापों का समर्थन करते रहते हैं।"

धृतराष्ट्र ने विवशता के स्वर में कहा—"विदुर! भैया, मैं क्या करूँ? अपने मन को बहुत समझाता हूँ, किन्तु मेरी ही दुर्बलता है। पुत्र स्नेह के कारण मैं उसे दुखी नहीं देख सकता।

कितना भी अयोग्य दुष्ट पुत्र क्यों न हो, पुत्र तो पुत्र ही है। पिता की आत्मा है, अपने शरीर से उत्पन्न हुआ है। उसकी बातें कैसे न मानूँ ?"

इस पर विदुरजी बोले—"महाराज ! शरीर से उत्पन्न होने के ही कारण पुत्र हो जाता है क्या ? दाढ़ी, मूँछ और शिर के बाल तो शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हें क्यों नहीं सुरक्षित रखते ? विष्ठा, मल, मूत्र तो शरीर के भीतर ही बनते हैं, उनसे इतनी घृणा क्यों करते हैं ? क्यों उन्हें शरीर से पृथक् होते ही त्याग देते हैं ? क्यों उन्हें स्पर्श करके सचैल स्नान करते हैं ? रोग तो शरीर से ही पैदा होते हैं, उन्हें नाश करने का प्रयत्न क्यों करते हैं, क्यों कड़वी-कड़वी औषधियाँ खाकर ज्वर को नष्ट करना चाहते हैं ?"

इस पर धृतराष्ट्र बोले—"विदुर ! भैया, तू तो बड़ा बुद्धिमान् है। तभी तेरा बड़े-बड़े विद्वान इतना सम्मान करते हैं। तू भैया, ठीक कहता है। किन्तु निर्जीव मल, मूत्र, केश और नखों के साथ तू जीवित पुत्र की समानता क्यों कर रहा है ? मल तो मल ही है, पुत्र तो पुत्र ही है, वह अपने वीर्य से उत्पन्न होता है।"

विदुरजी ने कहा—"राजन् ! सजीव होने से ही कोई स-जीव होता है क्या ? सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु तो सजीव होते हैं, बच्चे होते हैं, पर भीलों के अपराधी होने से वे उन्हें मार डालते हैं। पागल हुए अपने घर के प्यारे हाथी को भी दाँत और नख नहीं देखते तो मार देते हैं। यहाँ शरीर उत्पन्न होने की बात, सो शरीर में घाव हो जाने पर कोई हो जाता है। अधिक मीठा या उड़द आदि की पिट्ठी खाने

पेट में कीड़े पड़ जाते हैं, उन्हें कोई पुत्र मान कर रखा नहीं करते। अपने पसीने से जूएँ हो जाते हैं, उनको कोई तनय कह कर पालता पोसता नहीं। रही वीर्य से उत्पन्न होने की बात, सो वीर्य से तो कीड़े रहते हैं, कीड़े पड़ भी जाते हैं। महाराज! जहाँ से मूत्र उत्पन्न होता है, वहाँ से ही पुत्र उत्पन्न होता है। यदि वह अपने अनुकूल है, कुल वंश की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला है तब तो वह पुत्र है, नहीं तो वह मूत्र की भाँति त्यागने योग्य है।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"विदुर, भैया! तुम ठीक कहते हो, जो अपने अनुकूल नहीं, वह कुपुत्र है। फिर भी पुत्र कैसा भी कुपुत्र हो, कोई धर्मात्मा पिता अपने सुपुत्र को कभी नहीं त्यागता।"

इस पर रोष के साथ विदुरजी बोले—"नहीं राजन्! आप ऐसा न कहें। जो धर्म के मर्म को नहीं जानते—वे ऐसा कहते हैं। यदि अपना कुल कलंकित हो गया हो और उसके त्यागने से सम्पूर्ण ग्राम का भला होता हो, तो ऐसी दशा में बुद्धिमान् को चाहिये कि अपने कुल को त्याग दे। और किसी अपने एक आत्मीय जन से समस्त कुल के नाश की संभावना हो, तो उस एक व्यक्ति को त्याग देना चाहिये। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि राजाओं ने अपने अन्यायी पुत्रों को त्याग दिया है। महाराज सगर के एक पुत्र थे असमञ्जस। वे नगरवासी पुरुषों के छोटे-छोटे बच्चों को सरयू में फेंक देते थे। इसलिये राजा ने उन्हें त्याग दिया। यद्यपि वे योगी थे, अपने योग के प्रभाव से उन्होंने जाते समय सब डूबे हुए पुत्रों को जीवित भी कर दिया, फिर भी राजा ने प्रजा की भलाई के लिए उनका त्याग कर ही दिया।

सूर्यवंश में एक इक्ष्वाकु नाम के राजा हो चुके हैं, उन्होंने अपने पुत्र विकुक्षि को श्राद्ध के लिए मेध्य पशु लाने के लिये जंगल में भेजा था। भूख के कारण उस श्राद्धीय पदार्थ को उन्होंने श्राद्ध से ही पहिले खाकर उच्छिष्ठ कर दिया था। ऐसे नियम को त्यागने वाले पुत्र को राजा ने इसी एक अपराध के कारण त्याग दिया था। देवराज इन्द्र ने अपने पुत्र जयन्त को इसीलिये शरण नहीं दी थी कि उसने जगज्जननी सीताजी के साथ अशिष्ट व्यवहार किया था। ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं, कि अनीति पर चलने वाले अपने पुत्रों को पिताओं ने शत्रु की भाँति त्याग दिया है।

राजन्! आप तो बुद्धिमान् हैं, ज्ञान-दृष्टि से आप देखें संसार में कौन किसका पुत्र है? सभी पूर्वजन्म के सम्बन्धी पुत्र, भाई, सगे सम्बन्धी बन कर अपना बदला लेने आते हैं। कभी-कभी किसी घोर अपराध से राक्षस ही पुत्र का रूप धारण करके आ जाते हैं। आप इस दुर्योधन को अपना पुत्र न समझें। यह मूर्तिमान अवगुण है। कलियुग ने ही आपके घर में पुत्र बन कर जन्म लिया है। पुरुषों से द्वेष करना ही महापाप है। सो यह तो पुरुषोत्तम से द्वेष करता है आपके सामने ही इसने अपनी यह सम्मति प्रकट की थी, कि श्रीकृष्ण को पकड़ कर कैद कर लो। यह क्रूरकर्मा भला उन पुरुषोत्तम को कैसे कैद कर सकता है? जैसे गीदड़ सिंह को स्पर्श नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह भगवान वासुदेव को छू भी नहीं सकता। जो पुरुष भगवद् विमुख है, उसका तो मुख देखना भी महापाप है। भगवान् ने क्षुद्र समझ कर ही इसे क्षमा कर दिया है, नहीं तो वे चाहते तो इसे तुरन्त उसी

प्रकार मार डालते, जैसे धर्मराज के राजसूय यज्ञ में सबके देखते-देखते—भरी सभा में सभी राजाओं के सम्मुख—उन्होंने शिशुपाल को मार डाला था। हे कुरुकुल कीर्ति वर्धन राजन्! आपको अपनी कीर्ति प्यारी हो, आप अपना भला चाहते हों तो इस घर में घुसे पुत्र रूप धारण किये जगत् के शत्रु—मूर्तिमान कलि—का परित्याग कर दें। यह दुष्ट भगवान् की शक्ति को जानता नहीं। जिन्होंने ग्यारह वर्ष की छोटी अवस्था में जरासन्ध जैसे त्रैलोक्य विजयी वीर को युद्ध में सन्तुष्ट करने वाले कंस को, उसके घर जाकर भरी सभा में बिना अस्त्र शस्त्र के ही केवल घूसों से मार डाला, उन श्रीकृष्ण के सामने आपका यह क्षुद्र—पाप से मृतक के समान बना हुआ—पुत्र क्या वस्तु है? इसे आप अँगरखे की बाँहों के भीतर छिपा हुआ सर्प समझें। सम्बन्धी के रूप में शत्रु मानें। यदि आप मेरी बात न मान कर, इसका पुत्र की तरह पालन करेंगे, तो इसमें आपका कल्याण नहीं हो सकता।

आप कह सकते हैं, कि श्रीकृष्ण यदि इसे मार डालें तो मेरे निन्नानवें पुत्र तो बच ही जायँगे। सो बात नहीं, इस एक के अपराध से आपके कुल का समूल नाश हो जायगा, उसमें कोई पिण्ड पानी देने वाला भी न रह जायगा। अतः आप मेरी बात मानें, अपने समस्त कुल के कल्याण के निमित्त आप इस एक अधर्मी का त्याग कर दें। इसको घर से निकालते ही सम्पूर्ण कुल में ही नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र में शान्ति छा जायगी।

यदि आप यह सोचें, कि त्यागने से यह कुछ उपद्रव करेगा, तो इसका सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है, कि आप इसे पकड़ कर श्रीकृष्ण भगवान् को सौंप दें। वे इसे ठीक कर लेंगे। उनके सामने यदि इसने कुछ चीं-चपड़ की, तो वे इसे उस प्रकार से यम के नगर की ओर पार उतार देंगे, जिस प्रकार उन्होंने इसी के भाई-बन्धु अघासुर, बकासुर, वत्सासुर, धेनुकासुर, चाणूर, मुष्टिक और कंस आदि को यम के घाट दिया है।"

इस प्रकार जब विदुरजी ने बिना लगाव लपेट के अपने कुल की रक्षा के लिये महाराज धृतराष्ट्र से कहा, तो वे इस हित पूर्ण बात का कुछ भी उत्तर न दे सके। समीप में ही बैठा-बैठा दुर्योधन यह सब बातें सुन रहा था। इन बातों के सुनने के उसका हृदय क्रोध से भर गया। रोष के कारण उसके रोम-रोम से क्रोध रूपी चिनगारियाँ सी निकलने लगीं, आँखें लाल हो गईं, ओठ हिलने लगे और विदुरजी के ऊपर अत्यन्त कुपित होकर उन्हें भली बुरी सुनाने लगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हित के वचन सभी को प्राय बुरे लगते हैं। किन्तु पापी पुरुष को तो अपनी भूल मालूम ही नहीं पड़ती। दूसरों में सरसों की बराबर दोष हों, तो उसे वे पहाड़ के समान देखेंगे और अपना सुमेरु के समान भी दोष उन्हें परमाणु के बराबर भी दिखाई न देगा। विदुरजी को कैसी कड़ी-कड़ी बातें उस दुष्ट दुर्योधन ने कहीं, उन सबको मैं आगे सुनाऊँगा। आप सब इसे समाहित चित्तसे श्रवण करें।

छप्पय

यह दुर्योधन दुष्ट इष्ट कूँ, नहिं पहिचाने।
मधुसूदन कूँ मूर्ख मन्दमति मानुष माने॥
कपटी कुटिल कुबुद्धि क्रूर कलि की यह मूरति।
तैसे ई सब सचिव शकुनि दुस्सासन खलमति॥
राजन्! चाहो, कुशलता, कुल की यह कारज करो।
कृष्णार्पण जाकूँ करो, सब जग को संकट हरो॥

दुर्योधन द्वारा श्रीविदुरजी का तिरस्कार

(१०३)

क — एनमत्रोपजुहाव जिह्मम्,
दास्याः सुतं यद् बलिनैव पुष्टः।
तस्मिन् प्रतीपः परकृत्य आस्ते,
निर्वास्यतामाशु पुरच्छ्वसानः ॥*

(श्री भा० ३ स्क० १ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

सुनत विदुर के वचन दुष्ट दुर्योधन अघमति।
भौंह चढ़ी म्हीं लाल अधर फरके कोप्यो अति॥
तिरस्कार करि कहे—क्रूर कौनें बुलवायो।
काहे दासी पुत्र राज परिषद् महँ आयो॥
कान पकरि कें कुटिल कूँ, करि कारो म्हीं मूड़ि सिर।
देहु निकासो देश तें, लौटे नहिं यह अधम फिर॥

संसार में अधिकांश लोग ऐसे हैं, जो रुख देख कर बातें किया करते हैं। चाहे उसमें हमारा हित हो या अहित हमें अप्रसन्न करना नहीं चाहते, मुँह मीठी बात कह देंगे और

---

*दुःशासन और शकुनि के सहित दुर्योधन श्रीविदुरजी का तिरस्कार करते हुए कहने लगा—"अरे इस नीच दासी पुत्र को यहाँ

अपना रास्ता लेंगे कोई उनसे यह पूछे कि 'अजी, आपने ऐसी ठकुरसुहाती बात क्यों कह दी? इससे तो उसकी हानि हो सकती है। तब वे अपने को निर्दोष बताते हुए कह देते हैं। "भैया, अपना उससे प्रयोजन ही क्या? सत्य बात कहते तो वह अप्रसन्न होता। इससे हमें साँचाधारी बनने की आवश्यकता ही क्या? हमने उसकी हाँ में हाँ मिला दी, अपने को तो न ऊधो का लेना, न माधो का देना, सदा मस्त रहना', ऐसे भाव उन लोगों के होते हैं जिनका हमसे हार्दिक बन्धुत्व नहीं, जो उदासीन हैं। एक हमारे शत्रु भी होते हैं, जो अकारण हमारे छिद्र ही देखते रहते हैं और हमें सदा नीचे गिराने का ही प्रयत्न करते रहते हैं। एक अपने सुहृद् सम्बन्धी तथा बन्धु होते हैं, जो सदा हमारे हित की ही सोचते हैं। इस प्रकार सुहृद् दुर्हृद् और उदासीन तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं। सुहृदों में एक तो ऐसे होते हैं जो प्रेम से हमारा हित बता देते हैं, यदि हम उनकी बात मानते हैं, तब तो ठीक ही है नहीं मानते; तो वे चुप हो जाते हैं। दुखी होकर कह देते हैं। "अच्छा भैया! अब तुम्हें जो दीखे सो करो।" एक अत्यन्त हितैषी होते हैं, जो अन्त तक सभी प्रयत्न करके—कड़ी से कड़ी बातें कह कर—हमें समझाने का प्रयत्न करते हैं। वे इस बात की अपेक्षा नहीं रखते, कि हमारे सब बचन मीठे ही हों, उनका लक्ष्य सदा हमारे हित में रहता है, हमारा

किसने बुलाया है? यह जिनके टुकडे खा खा कर पला है, पुष्ट हुआ है, उन्हीं के विरुद्ध होकर शत्रुओं का हित चाहता है। अभी इस दुष्ट को नगर से बाहर निकाल दो। अब इसे प्राणदण्ड तो क्या दूँ, जीते जी इसे राजधानी से बाहर छोड़ आओ।

जिसमें हित हो उसके लिये वे अप्रिय से अप्रिय बात तक कह देते हैं। ऐसे हितैषी पुरुष संसार में सर्वत्र नहीं मिलते, दुर्लभ हैं। किसी भाग्यशाली को पूर्व जन्मों के पुण्यों से प्राप्त होते हैं। विदुरजी कौरवों के ऐसे ही हितैषी थे। वे सत्य बात कहने में कभी चूकते नहीं थे। अन्याय करना, पक्षपात से बात बनाना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था, क्योंकि वे साक्षात् न्यायकर्ता धर्मराज के अवतार ही थे। दुर्योधनादि कौरवों को वे बड़े सुकृतों से प्राप्त हुए थे। किन्तु उन दुष्टों ने उनका आदर नहीं किया, उनकी बात मानी नहीं, अपने राज्य और कुलीनता के अभिमान में उनका तिरस्कार किया।

जब विदुरजी ने सबके सामने स्पष्ट धृतराष्ट्र से कह दिया— "राजन्! जब तक आप इस दुष्ट दुर्योधन का पुत्र समझ कर पालन करेंगे, इसे अपने घर में रखेंगे, तब तक आपका कल्याण नहीं। यदि आप अपना अपने कुल का अपने पुर और परिवार का, अपने राज्य का तथा सम्पूर्ण विश्व का कल्याण चाहते हैं, तो इस मूर्तिमान् क्रोध को, इस कलियुग के अवतार दुर्योधन को पकड़वा कर या तो श्रीकृष्ण को सौंप दीजिये या इसे देश निकाला दे दीजिये। इसके अतिरिक्त आप का कल्याण नहीं। जब तक आप इसे अपने यहाँ से पृथक न करेंगे, तब तक आपकी कुशल नहीं।"

इस बात को सुन कर तो दुर्योधन मारे क्रोध के थर-थर काँपने लगा और अत्यन्त ही रोप में भर कर दाँतों से अपने ओठ को काटते हुए भौंहें तान कर बोला— "इस नीच दुष्ट, अप्रियवादी दासी पुत्र को यहाँ किसने बुलाया है? राज सभा में इस अप्रियवादी लज्जा और विनय से हीन दुश्चरित्र शूद्र

का काम ही क्या है। राजसभा में तो सदा मधुरभाषी ही सम्मान पाते हैं, क्योंकि राजा मधुरवचन प्रिय होते हैं। यह विष-मुख तो जब बोलता है, तभी विष ही उगलता है, जैसे सर्प के मुख में विष की थैलियाँ होती हैं, वैसे ही इसके मुख में विष ही विष भरा है। कभी प्रेम से, सत्कार, शिष्टाचार से, विनय पूर्वक बोलता ही नहीं। यह किस आधार पर इतनी बढ़-बढ़ कर बातें करता है? हम राजा हैं, शासक हैं, स्वतन्त्र है, जो चाहें सो करेंगे, इस नीच को हमारे बीच में बोलने का अधिकार ही क्या है?

यह नौकर है, हमारा पालतू कुत्ता है हमारे टुकड़े खा-खा कर ही पला है, हमारी थाली का जूठा अन्न खा-खा कर ही यह मोटा बना है, फिर हमीं पर अधिकार जमाता है, हमारे सामने ही अपनी बुद्धिमानी जनाता है। जिस पत्तल में खाता है उसी में छेद करता है, जिस हाँड़ी में पकाता है उसी को फोड़ता है, स्वामी से द्रोह करता है। नीचता की भी सीमा होती है। यह तो उस सीमा को भी उल्लंघन कर गया है, नितान्त कृतघ्नी बन गया है, वेतन यहाँ से पाता है, हित हमारे शत्रुओं का चाहता है, रोटी हमारी दी हुई खाता है, काम हमारे विरुद्ध करता है। हमारे रिपुओं से मिला रहता है, हमें ही निर्वीर्य, नपुंसक और पराक्रम रहित समझ कर सदा निरुत्साहित करता रहता है। यह दुष्ट यहाँ बैठने योग्य नहीं, यह तो वध करने योग्य है। किन्तु इस नीच का जन्म मेरे पितामह की दासी से हुआ है। इस नाते से अपने पितामह का आदर करते हुए मैं इसे प्राण दण्ड देना नहीं चाहता, किन्तु अब मैं इस कटुभाषी का मुख भी देखना नहीं चाहता। मुझे इसकी सूरत से घृणा है। अभी इसे बाँध ले जाओ और नगर से बाहर जीवित ही छोड़

दो और इसे सावधान कर दो, कि नीच ! यदि फिर इस पुर में कभी लौट कर आया तो तुझे जीवित ही कुत्तों से नुचवा जायगा।"

दुर्योधन को अपने सगे चाचा के लिये ऐसे क्रोध पूर्ण वचन कहते देख कर सभी सभा स्तम्भित रह गई। किसी के मुख से कोई वचन न निकला। वहाँ जितने लोग बैठे थे सब पत्थर की मूर्ति के समान निश्चेष्ट हो गये। विदुरजी जो भी कुछ कहते थे कौरवों के हित के लिये—अपना अधिकार और कर्तव्य समझ कर—धृतराष्ट्र के बल पर कहते थे। उन्हें विश्वास था राज्य के स्वामी धृतराष्ट्र हैं, मैं उनका छोटा भाई और प्र मन्त्री हूँ। मैं जो भी राज्य के हित के लिये कहूँगा, मेरे उसे मानेंगे और अब तक ऐसा होता ही था, किन्तु आज धृत राष्ट्र के सामने ही दुर्योधन ने उन्हें इतनी कड़ी-कड़ी बातें दीं। न देने योग्य गालियाँ दीं, इसलिये उन्हें मानसिक दुः हुआ। वे महाराज धृतराष्ट्र के मुख की ओर निहारने लगे। उन्हें आशा थी, कि वे दुर्योधन को डाटेंगे, फटकारेंगे और उसे मना करेंगे, कि मेरे भाई से तू ऐसी बातें क्यों कहता है। इसी आशा से वे इतनी गालियाँ सुन कर भी चुपचाप बैठे रहे। जब उन्होंने देखा धृतराष्ट्र तो मौन हैं, वे कुछ बोलते ही नहीं तब तो वे समझ गये, कि अब कौरव-कुल का नाश अत्यन्त ही सन्निकट आ गया है। पाप रूपी वृक्ष के फल पक गये हैं। उनकी सुन्दरता पर ये सब मुग्ध हो गये हैं। जहाँ सबने उन्हें तोड़ कर खाया नहीं, कि सभी के जीवन का अन्त हो जायगा। अब इस वीभत्स दृश्य को मैं अपनी आँखों से क्यों देखूँ ? क्यों अपने परिवार के संहार को देख कर दुखी बनूँ ? यही सोचकर वे बड़ी नम्रता से बोले—"भैया, दुर्यो-

धन ! तुम्हें मुझे देश से निकाल देने के लिये दूतों को दुःख न देना पड़ेगा। तुम अपने राज्य को सम्हालो। अपने नगर को रखो, मैं स्वयं ही जा रहा हूँ। तुम्हारे जीवित रहते, अब मैं इस नगर में लौट कर न आऊँगा।" इतना कह कर वे जैसे बैठे थे, वैसे ही उठ खड़े हुए। इतने पर भी धृतराष्ट्र ने उन्हें रोका नहीं। मना नहीं किया कि भाई, तुम कहाँ जाते हो। मुझ अंधे की ओर ध्यान दो। इस उद्धत लड़के की बातों को भूल जाओ।" यदि उस समय धृतराष्ट्र इतना भी कह देते, तो संभव है विदुरजी रुक जाते किन्तु धृतराष्ट्र ने तो कुछ भी नहीं कहा। अतः वे इसे विधि का विधान ही समझने लगे। यद्यपि दुर्योधन ने ऐसे वचन कहे जो कानों में बाणों के समान विंधने वाले थे, मर्म स्थान में पीड़ा पहुँचाने वाले थे, किन्तु विदुरजी ने उनका कुछ भी बुरा न माना। वे समझ गये—यह मायापति माधव की मोहिनी माया का प्रभाव है। वे जिससे जब जो कराना चाहते हैं, तब उसकी वैसी ही बुद्धि बना देते हैं। वे तुरन्त राजमहल से उठ कर सभा के बाहर आये और सभा द्वार पर अपना विशाल धनुष रख कर; तुरन्त वहाँ से चल दिये।

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! धनुष को द्वार पर धरने का क्या कारण था ?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन् धनुष द्वार पर रखने के कई कारण थे एक तो यह कि धनुष शत्रुओं से रक्षा करने के लिये था। जब तक हम राजकाज करते थे, तब तक उपचार से भी शत्रु मित्र का सम्बन्ध था। अब जब राजकाज ही त्याग दिया, तो न हमारा कोई शत्रु रहा न मित्र, अब धनुप

की क्या आवश्यकता ? दूसरी बात यह थी, कि अब वे अलक्षित होकर अवधूत होकर विचरना चाहते थे, जिससे उन्हें कोई पहचान न सके। धनुप रहेगा, तो लोग समझ लेंगे—ये किसी राज परिवार के पुरुप हैं, इसलिये भी धनुप उन्होंने रख दिया। तीसरे यह भी सोचा—धनुप लेकर जाँयगे, तो ये सभी कौरव शंका करेंगे, कि ये हमारे शत्रु पांडवों से तो नहीं मिल जायँगे। अतः इस शंका को भी निर्मूल करने के लिये कि हम तो अब त्यक्तदण्ड हो गये हैं, किसी का भी पक्ष ग्रहण न करेंगे इसलिये भी धनुप को रख गये। चौथे उन्होंने सोचा—हत्या की जड़ तो यह धनुप ही है। इसी कारण भाई अपने सगे भाई के रक्त का प्यासा बन जाता है, यदि मेरे चले जाने पर भी ये चेत जायँ और अपने-अपने धनुपों को रख दें तो कौरव पाँडवों का विनाश न हो, इसलिये अंतिम संकेत भी करते गये कि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अब अं धनुपों को धर दो। पाँचवे यह कि जब तक तुम्हारा हम धनुप धारण करते थे, तब तक तुम्हारा काम करते थे, अब तुम अपनी थाती सम्हालो, हम तो अब भगवत्-भजन करेंगे। मानों वे अपने प्रधान मन्त्रित्व से धनुप रखकर हो त्याग पत्र दे गये। छठा यह कि हम तो केवल तुम्हारा धनुप धारण करने से ही तुम्हारे हित की बात कहा करते थे। मन तो हमारा पांडवों की ओर ही था। अतः मन से तो हम उनका कल्याण अब भी चाहेंगे और हम तभी लौटेंगे जब हमें फिर धनुप धारण न करना पड़े अर्थात् जब धर्मराज सिंहासनरूढ़ हों। इस प्रकार अनेक गूढ़ रहस्यों को विचार कर विदुरजी निःशस्त्र होकर नगर से बाहर निकल पड़े।

छप्पय

मौच्चके से भये बन्धु कूँ बिदुर निहारें।
करे नीचता नीच न ताकूँ तनिक विचारें॥
किन्तु अन्ध कूँ मौन निरखि कें अति घबराये।
सोचेः अब तो अन्त दिवस इन सबके आये॥
बोले—भैया! स्वयं ही, तेरे घर तें जाउँगो।
अब कबहूँ जा भवन महँ, म्हौ तोकूँ न दिखाउँगो॥

विदुरजी का हस्तिनापुर त्याग और तीर्थ भ्रमण

(१०४)

स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो—
गजाह्वयात्तीर्थपदः पदानि।
अन्वाक्रमत्पुण्य चिकीर्षयोर्व्याम्,
स्वधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्तिः॥*
(श्री भा० ३ स्क० १ अ० १७ श्लो०

छप्पय

परम भागवत विदुर भये बाहर जब पुरतें।
मानों सद्गुण पुण्य सभी निकसे या घरतें॥
करिवे कूँ व्योपार वणिक् धन लैके धावें।
त्यों लीये सँग पुण्य, वृद्धि हित तीरथ जावें॥
दरवाजे पै धनुष धरि, नंगे पाइन चलि दये।
शत्रु मित्र सम्बन्ध तजि, स्वच्छ दंड मानो भये॥

हित की बात कहने पर भी जिसे बुरा लगे अपने हितैषि
को भी जो शत्रु समझे, पूज्यों के लिये भी जो कुवाच्य वच
बोले, गुरुजनों के वचनों की भी जो अवहेलना करे, साधु पुरु

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! कौरवों ने जिन विदुरजी को
अनेकों पुण्यों के प्रताप से प्राप्त किया था, वे विदुरजी हस्तिनापुर से

का भी जो तिरस्कार करे, समझना चाहिये उसका विनाश समीप है। मृत्यु के वश में होकर अपना सर्वस्व नष्ट करने के लिये ही मनुष्य ऐसे आचरण करता है। जो अपने हित में सदा निरत रहते हैं, वे यदि हमारे दुर्व्यवहार से दुखी होकर हमें परित्याग करके चले जाँय और हमें उनके जाने पर पश्चात्ताप न हो, तो समझ लेना चाहिये हमारा कल्याण नहीं। यही सोच कर महाराज परीक्षित् ने पूछा। "प्रभो! परम भागवत विदुरजी के हस्तिनापुर से चले जाने के अनन्तर क्या हुआ, वे कहाँ-कहाँ गये? इस सब वृत्तान्त को आप मुझे सुनाइये।"

महाराज की ऐसी उत्सुकता देखकर श्री शुक बोले—"राजन्! फिर हुआ क्या? जो होना था वही हुआ। विदुरजी कौरवों के यहाँ से क्या गये मानों कौरवों के महल से उनका समस्त पुण्य ही चला गया। किसी प्रबल पुण्य के प्रभाव से उन्होंने पद, प्रतिष्ठा, राज्य सिंहासन और परम बुद्धिमान् विदुर-जी जैसा मन्त्री पाया था। वह पुण्य आज समाप्त हुआ। समस्त पुण्य और सद्गुणों के साथ विदुरजी हस्तिनापुर से बाहर हुए। पृथ्वी के समस्त राजाओं ने उन्हें धर्मराज के राजसूय यज्ञ के समय तथा हस्तिनापुर में अनेकों अवसरों पर प्रधान मन्त्री के रूप में देखा था। सहस्रों पुरुषों पर आज्ञा चलाते हुए उनके दर्शन किये थे। आज उन्हें अकेला ही अकिंचन के वेष में देख कर लोग भाँति-भाँति के प्रश्न करते। विदुर जैसे

बाहर निकल गये। अब वे पुण्य करने की इच्छा से तीर्थपाद श्रीहरि के पवित्र क्षेत्रों में पर्यटन करने लगे। जिनमें भगवान् अपनी भिन्न-भिन्न सहस्रों मूर्तियों से अवस्थित हैं।"

महात्मा किसी के दोष कैसे बता सकते थे ? इसलिये उन्होंने अपना ऐसा वेष बना लिया, कि कोई उन्हें पहिचान ही न सके। सब राजसी वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये। साधारण फटे पुराने चीर वल्कल शरीर पर धारण कर लिये। सम्पूर्ण शरीर में भस्म लगाली, जटा दाढ़ी बढ़ाली, मौन व्रत धारण कर लिया, एक बड़ा सा दण्डा हाथ में ले लिया। इस प्रकार के विचित्र वेष बनाकर पृथ्वी पर विचरण करने लगे। भोजन का कोई नियम नहीं था। जो भी भगवत् इच्छा से कन्द, मूल फल रूखा-सूखा मिल जाता, उसी को खाकर सन्तोष करते। जिस दिन कुछ भी न मिलता, उस दिन उपवास कर जाते। वे जिस जिस तीर्थ में जाते वहाँ जाकर पहिले स्नान करते, फिर भगवान् का ध्यान करते। जहाँ रात्रि हो जाती वहीं पृथ्वी पर पत्ते बिछाकर पड़े रहते। जहाँ समझते कोई अपने आत्मीय सम्बन्धी हैं, वहाँ नहीं जाते। इस प्रकार वे अपना अज्ञात जीवन बिताने लगे। आस पास के राजा महाराजाओं से तो उनका नित्य ही काम पड़ता रहता था, इसलिये पास के देशों में न घूमकर ये दूर दक्षिण देश के तीर्थों में ही पहिले गये।

विदुरजी ने देखा, दक्षिण देश में भगवान् के बड़े-बड़े विशाल दिव्य देश हैं। कहीं भगवान् विष्णु के बृहत् मन्दिर हैं, तो कहीं शिवजी के दीर्घ आकार प्रकार वाले विशाल पर्वतों के समान मन्दिर बने हुए हैं। जिन-जिन नगरों में भगवान् के बड़े-बड़े गोपुर (प्रधान द्वार) वाले मन्दिर देखते उनमें चले जाते। दाक्षिणी लोग आपस में जाने क्या किड़बिड़ किड़बिड़ बोलते थे, उसे विदुरजी नहीं समझते थे। समुद्र के किनारे के ये देश बड़े ही मनोहर और हरे भरे थे। उन परम पवित्र नगर, वन, उपवन, पर्वत, नद, नदी निकुंज, निर्मल नीर वाले सरोवर

आदि को देख-देख कर विदुरजी बहुत ही प्रसन्न होते। विदुरजी बड़े बुद्धिमान थे। वे सभी भाषाओं को जानते थे, यहाँ तक कि उन्हें म्लेच्छ भाषा का भी यथेष्ट ज्ञान था। किन्तु दक्षिणियों की भाषा को वे बहुत ध्यान देने पर भी न समझ सके। इधर के कोई साधु सन्त मिल जाते, तो उनसे बातचीत कर लेते, नहीं तो सदा मौन ही रहते। आवश्यक बातें संकेत से करते। एक समय उन्हें कोई एक बड़े विरक्त राम भक्त साधु मिले। बातचीत होने पर उन्होंने एक कहानी सुनाई। वह इस प्रकार थी।

जब हमारे सरकार श्री कौशलकिशोरजी अश्वमेध आदि बड़े-बड़े यज्ञ कर चुके, तो उन्होंने अपने तीनों भाइयों को सभी देशों में भेजा कि जाकर तुम लोग सभी देशों की भाषा सीख आओ। चक्रवर्ती राजा को सभी भाषाओं का ज्ञान होना चाहिये। लक्ष्मणजी को दक्षिण दिशा में भेजा। लक्ष्मणजी बड़े बुद्धिमान् थे, किन्तु दक्षिणियों की भाषा सीखने में उन्हें भी बड़ी कठिनता प्रतीत हुई। उनका सम्पूर्ण उच्चारण गले से ही होता था सीख-साख कर अवधपुरी में पहुँचे। भगवान् ने सबसे पूछा—'भाई, हमें सुनाओ तुम लोगों ने किस-किस भाषा को सीखा?' सबने सुनाई जब लक्ष्मणजी की बारी आई तो उन्होंने एक खाली घड़े में कंकड़ी भर कर उसे हिलाना आरम्भ कर दिया। इस पर हँसते हुए श्रीरामजी ने कहा—'भाई, यह तुम क्या बाजीगर का सा खेल कर रहे हो? दक्षिण की भाषा सुनाते हो या खेल करते हो?' इस पर हाथ जोड़ कर लक्ष्मणजी ने कहा—"प्रभो! बस, यही दक्षिण की भाषा है, खाली घड़े में कंकड़ी डाल कर हिलाने से जैसा शब्द हो, ठीक वैसी ही दक्षिणी भाषा समझनी चाहिये।'

इसको सुनकर विदुरजी बहुत हँसे और जब भी दक्षिणियों को बातें करते देखते, उन्हें वही लक्ष्मण जी की बात याद आ जाती। इस प्रकार भारत वर्ष के समस्त तीर्थों में विचरते-विचरते वे प्रभास पट्टन क्षेत्र में पहुँचे, जो द्वारकापुरी के समीप है। वहीं उन्होंने सुना, कि महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया। समस्त कौरव मारे गये। अठारह अक्षोहिणी सेना का संहार हो गया। भगवान् वासुदेव की सहायता से धर्म-परायण धर्मात्मा धर्मराज समस्त वसुन्धरा के एक छत्र सम्राट् बन गये।

विदुरजी कौरवों के आचरणों को देख कर पहिले से ही दुखी थे। वे समझ गये थे, कि अब उनका विनाश समीप आ गया है, तभी तो इन सब की विपरीत बुद्धि हो गई है। वे नहीं चाहते थे, कि कौरव-पाडवों का युद्ध हो। किन्तु भावी को कौन मेंट सकता है? जब उन्होंने समझ लिया, कि अब युद्ध रुक नहीं सकता और दुर्योधन हमारी बात मानेगा नहीं अन्धे धृतराष्ट्र इसके सामने कुछ कह नहीं सकते, तो वे तीर्थ यात्रा के बहाने निकल पड़े। जब उन्होंने सुना, कि जैसे एक स्थान से उत्पन्न होने वाले बाँस परस्पर में रगड़ खाकर अपने आप ही अग्नि उत्पन्न करके—दावानल से—जल कर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार अपनी स्पर्धा और कुटिलता के कारण कौरव कुल का संहार हो गया, तो उन्हें दुःख भी हुआ। कैसे भी थे वे अपने परिवार के ही थे। क्या करते? वे कुल विनाश के शोक से संतप्त होकर चुपचाप सरस्वती नदी के किनारे पहुँचे। जहाँ प्राची सरस्वती समुद्र में मिलती है, उस स्थान पर स्नान करके वे आगे बढ़े। फिर त्रित, उशान, मनु, पृथु, अग्नि, असित, वायु, सुदास, गौ, गुह और श्राद्धदेव—इन ११

देवताओं के नाम से जो प्रसिद्ध तीर्थ हैं, उन सब में स्नान करते हुए वे दक्षिण के सभी तीर्थों में घूमे।

जहाँ वे मन्दिरों की फहराती हुई ध्वजाओं को देखते, वहीं भूमि में लोट कर प्रणाम करते। भगवान् विष्णु के मन्दिरों के गोपुरों पर, अन्य द्वारों पर भगवान् के शंख, चक्र, गदा और पद्म के चिह्न चित्रित देखते, तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहता। शिवजी के मन्दिरों में बड़े-बड़े नन्दीश्वरों के दर्शनों से उन्हें बड़ा सुख मिलता। किसी-किसी मन्दिर में तो शिवजी के नन्दी की पहाड़ के समान विशाल प्रतिमा देखकर आश्चर्य करते, कि हमारे उत्तर भारत में इतने बड़े-बड़े नन्दीश्वर नहीं होते। कहीं गरुड़जी की बहुत लम्बी मूर्ति के दर्शन करते। इस प्रकार भगवान् के अस्त्र, आयुद्ध, पार्षद, परिवार, वाहन आदि के दर्शनों से उनका रोम-रोम खिल जाता। जहाँ शंख, चक्र गरुड़ आदि को देखते, वहीं उन्हें भगवान् वासुदेव का स्मरण हो आता। अहा! मेरे श्यामसुन्दर के चरणों में भी ये ही वज्र, अंकुश, ध्वज, कमल, शंख, चक्र आदि के चिन्ह हैं। मेरे नन्द नन्दन ही कहीं चतुर्भुजी विष्णु बन कर, कहीं लिङ्गाकार शिव बन कर विराजे हुए हैं। ये नटवर बहु रूपधारी, सब उन्हीं के विग्रह हैं। सब रूपों में वे ही व्याप्त हैं। सब स्वरूपों से वे ही सब की भावानुसार पूजा ग्रहण कर रहे हैं। इस प्रकार वे बिना भेद बुद्धि के सभी तीर्थों में स्नान पूजन करते हुए उत्तर की ओर चले। वे अत्यन्त समृद्धिशाली सौराष्ट्र-सौवीर, मत्स्य, कुरु, जांगल आदि देशों को लांघते हुए यमुना जी के किनारे किनारे भगवान् नन्दनन्दन की क्रीड़ास्थली—परम पावन ब्रज भूमि में पहुँचे, जिसकी रज के एक कण के लिये ब्रह्मादिक देवता तरसते रहते हैं। उस भूमि में आकर विदुरजी को

भाव समाधि हो गई। उनके समस्त शरीर के रोम खड़े हो गये और नेत्रों से निरन्तर अश्रु बहने लगे। इसी दशा में वे यमुनाजी की बालू में पड़े-पड़े भगवान् के ध्यान में मग्न हो गये।"

छप्पय

वन उपवन वर पुण्य सरोवर सरिता सुन्दर।
चिह्नित देखे शंख चक्र तें मनहर मन्दिर॥
कहूँ कृष्ण धरि विष्णु रूप श्रीरङ्ग विराजें।
विश्वनाथ श्रीशम्भु विविध रूपनि महँ राजें॥
सब तीरथ की सार जो, आये ता ब्रजभूमि महँ।
नील बाल क्रीड़ा करी, माखन खायो चोरि जहँ॥

विदुरजी की वृन्दावन में उद्धवजी से भेंट

(१०५)

स वासुदेवानुचरं प्रशान्तम्,
बृहस्तेः प्राक्तनयं प्रतीतम्,।
आलिङ्गय गाढं प्रणयेन भद्रम्,
स्वनामपृच्छद् भगवत्प्रजानाम् ॥*

(श्री० भा० ३ स्क० १ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

देखी रसमय भूमि विदुर हिय महँ हर्षाये।
कृष्ण विरह में विकल वहाँ तब उद्धव आये॥
पथ भ्रम वश ज्यों भूलि मिले परकीया उपपति।
गंगा यमुना सदृश मिले मनमोद भयो अति॥
उद्धव तें बोले विदुर, कुशल कृष्ण कुल की कहो।
कृष्ण बिना कस भ्रमत हो, संग सदा तुम तो रहो॥

भगवद् दर्शन में क्या सुख है? वह तो सुखातीत है और जिसे होता है, वही उसका अनुभव करता है। उस सुख की किसी अन्य सुख से तुलना नहीं। किन्तु वैसा ही सुख, जिसे

---

*व्रजभूमि में श्रीविदुरजी ने भगवान् के पीछे-पीछे चलने वाले, शान्त स्वभाव और बृहस्पति के विख्यात श्रेष्ठ शिष्य श्रीउद्धवजी को

सब देखते हैं, इस दुःखमय जगत् में जो इन चर्मचक्षुओं से देखा जाता है एक भक्त का दूसरे भक्त के साथ मिलना है। इन के मिलने पर दोनों परस्पर में कितने प्रसन्न होते हैं, यह वाणी का विषय नहीं है। प्रेम हीन पुरुष भी जब दो प्रेम के मतवाले श्रीहरि के प्यारे, संसारी सम्बन्धों से निराले भक्तों का मिलन देखते हैं, तो उसका भी हृदय प्रेममय बन जाता है।

एक भक्त दूसरे भक्त को देखते ही यह चाहता है—मैं पहिले इसे प्रणाम करूँ। दूसरा चाहता है—मैं पहिले प्रणाम करूँ। दोनों के हृदयों में भक्तवांछा-कल्पतरु भगवान् श्यामसुन्दर बैठे रहते हैं। अपने सम्मुख भक्त को देखते ही भक्त शीघ्रता से भूमि में लेट कर प्रणाम करता है। उतने में दूसरा भी अति शीघ्र साष्टांग करने लगता है। भगवान् देखते हैं इन दोनों की इच्छा पूर्ण करो। झट से वे बीच में आकर खड़े हो जाते हैं, दोनों के हृदयों से निकलकर। लो भैया, तुम दोनों मुझे प्रणाम करो। मुझे तो भक्तों की इच्छा रखनी है। इसीलिये भक्तों में ऊँच नीच, छोटे, बड़े, अधम श्रेष्ठ किसी का विचार नहीं किया जाता। यद्यपि स्मृतिकारों ने प्रणाम के बड़े-बड़े नियम बनाये हैं—किसे प्रणाम करें किसे न करें? अपने से उच्च वर्ण के लोगों को प्रणाम करें नीच वर्ण के लोगों को पहिले से प्रणाम न करें आदि-आदि बहुत से प्रणाम सम्बन्धी नियम हैं, किन्तु भक्ति मार्ग में ऐसा कोई नियम नहीं। जो भागवत है, हरि शरणापन्न है, प्रपन्न हो चुका है, विष्णु भक्ति-

---

जब देखा, तो उन्होंने प्रेम पूर्वक उनका गाढ़ आलिंगन किया। तदनन्तर उनसे अपने आत्मीय बन्धु श्रीभगवान् के पुत्र पौत्रों की कुशल पूछी।

मार्ग में दीक्षित हो चुका है, वैष्णवी दीक्षा जिसने धारण कर लिया है, वैष्णवों के चिन्ह जिसने धारण कर लिये हैं, वैष्णवों के लिये वह किसी भी वर्ण का क्यों न हो, किसी भी जाति का क्यों न हो, वन्दनीय है, श्लाघनीय है; आदरणीय है और आलिंगनीय है। जिस शरीर में नन्दनन्दन आसन बिछाकर बैठे रहते हैं, जिन करों से सदा कृष्ण कैंकर्य ही होता रहता है, जो पग सदा पुण्य भूमियों में ही विचरते हैं, जो सिर सदा श्रीपति और उनके शरणागतों के लिये नमता रहता है भक्तों के वे अङ्ग कितने पावन हैं, उनका स्पर्श कितना सुख कर है ?

संसारमें वे लोग धन्य हैं, जो दो भक्तों के मिलन-दर्शन की अभिलाषा रखते हैं। जिन नेत्रों ने प्रेम में पागल हुए दो भक्तों का मिलन देख लिया, वे नेत्र धन्य हो गये। जिन श्रवणों ने परस्पर में सहसा मिला हुए दो भक्तों के एकान्त में हुए वार्तालाप को सुन लिया, उनके मध्य में हुई भगवत् कथा रूपी सुधा को कर्णपुटों में भर कर पी लिया, वे कण कण बहकाने के योग्य हो गये। उनका श्रवण नाम सार्थक हो गया। संसार में सब सुलभ है,किन्तु भक्तों का मिलन, भक्त दर्शन,भक्तों का आलिंगन और भक्तों का सत्संग यही दुर्लभ है। भक्तों का सत्संग पुण्य क्षेत्रों में, भगवत् धामों में पावन पुरियों में, ही प्रायः होता है। जहाँ भगवान् ने अपना अलौकिक गुणातीत विग्रह धारण करके दिव्य-दिव्य क्रीड़ायें की हैं उनके दर्शनों से भावोद्रेक होता है, रस की वृद्धि होती है। अतः भक्त प्रायः उन्हीं भगवत की क्रीड़ास्थलियों के समीप रहते हैं, वहीं इधर उधर विचरते रहते हैं।

श्रीवृन्दावन भूमि में आकर विदुरजी को परम शान्ति

हुई। वे ब्रज की योगिन्द्र मुनीन्द्रों और ब्रह्मादिक देवों द्वारा वंदित उस परम पावन रज में लोटने लगे। यह वहीं कमनीय कालिन्दी कूल है, जहाँ श्रीकृष्ण ने गोपियों के अज्ञान आवरण को हटाकर उनमें अपना अद्वैत भाव स्थापित किया था। यह वही अमृत वाहिनी सुधामयी सरिता है, जिसके निभृत निकुञ्जों में नन्दनन्दन ने व्रजाङ्गनाओं के साथ रास रचाया था। इसी सूर्यतनया के तट पर अपने अरुण अधरों पर धर कर मुरलीधर मनोहर मुरली बजाया करते थे। इसी ब्रज की जीवन रूपी सरिता के सुन्दर स्वच्छ सलिल को विषमय बनाने वाले कालिय नाग का श्यामसुन्दर ने यहाँ दमन किया था। इन्हीं ब्रज के वृक्षों के नीचे बैठकर श्रीकृष्ण के एकान्तिक दूत उद्धवजी ने प्रेम में पगली बनी गोपियों को कृष्ण संदेश सुनाया था। इन्हीं कदंब खोडियों की शीतल छाया में बैठकर महाबुद्धिमान् बृहस्पति-शिष्य उद्धवजी ने प्रेमपाती सुनाई थी। अहा, वे उद्धवजी धन्य हैं, जिन्होंने ब्रजभूमि में गुल्मलता बनने की इच्छा की थी जिन्होंने जंगली अहीरों की अज्ञा स्त्रियों की चरणधूलि को ही अपना सर्वस्व समझा था। विदुरजी ऐसा विचार कर ही रहे थे कि इन्हें सामने से उद्धवजी आते हुए दिखाई दिये। उनकी गति विचित्र थी। पैर रखना चाहते थे कहीं पड़ते थे कहीं। भौंहे चढ़ी हुई थीं आँखें लाल हो रही थीं, चाल बिखरे हुए थे, आंखों से निरन्तर अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। इस दशा में उद्धवजी को देखकर विदुरजी भौचक्के से रह गये।

पहिले तो उन्होंने समझा मैं स्वप्न देख रहा हूँ। ऐसा भ्रम होते ही उन्होंने दोनों हाथों से अपनी आंखें मलीं, इधर उधर मन्द गति से यमुना भी वही बह रही हैं, वे वृक्ष लता भी वे ही हैं, वे ही मयूर हैं, हरिण हैं। वे उठ कर खड़े हो गये, सोचने

लगे—यह स्वप्न नहीं, अरे, यह तो मनोरथ है। जिसका हम एकाग्र होकर चिन्तन करते हैं, उसकी सजीव मूर्ति हमारे नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष नाचने लगती है। इतनी देर से मैं उद्धवजी का चिन्तन कर रहा था। देखो, उनकी मनोमयी मूर्ति कैसी प्रत्यक्ष होकर मेरे सम्मुख आ गई। इतने ही में उद्धवजी और भी निकट आ गये। अब विदुरजी सम्हले। उनकी क्षण भर को बाह्य वृत्ति हुई। अरे यह मनोरथ नहीं, उद्धवजी की मनोमय मूर्ति नहीं, ये तो प्रत्यक्ष उद्धवजी हैं। इतना सोचते ही वे उनको आलिंगन करने के लिये दौड़े। उधर से उद्धवजी भी लपके। दोनों इसी तरह मिल गये जैसे तमाल की शाखा में पीलू की शाखा सट गई हो। उनके मिलने से श्रीवृन्दावन में प्रयागराज का दृश्य उपस्थित हो गया। गंगा यमुना के सदृश ये परस्पर में एक दूसरे से सट गये थे। कभी वे उन्हें जोर से आलिंगन करने के कारण पीछे हटा देते, कभी वे उन्हें थोड़ा बढ़ा देते। दूध और पानी की तरह, सत्तू और जल की तरह, ये दोनों एक ही गये थे। उनके प्राण से प्राण ही नहीं मिल गये, शरीर भी परस्पर में ऐसे सट गये, कि वे चार पैर वाले कोई एक ही पुरुष दिखाई देते थे। बड़ी देर तक वे दोनों अपने-अपने हृदय को शीतल करते रहे। जब प्रेम का वेग कुछ शान्त हुआ, तो परस्पर में एक दूसरे से पृथक् होकर वहीं यमुना कूल पर, रजत चूर्ण के समान चमकीली बालू पर बैठ गये। अब परस्पर में कुशल प्रश्न होने लगा।

विदुरजी बड़े विह्वल हो रहे थे। आज बीसों वर्ष के पश्चात् अपने एक सुहृद, सम्बन्धी, स्नेही मिले। संसारी लोगों से तो वे सम्बन्ध त्याग ही चुके थे। किन्तु श्रीकृष्ण तो उनके सर्वस्व थे। उनसे सम्बन्ध जोड़ने के लिए ही तो ये समस्त साधन

हैं। जिनका श्रीकृष्ण से सम्बन्ध है, वे तो अपने सम्बन्धी ही। उनकी स्मृति तो भगवत् स्मृति ही है। उनके सम्बन्ध चर्चा करना तो भगवत् कथा ही है। यही सब सोचकर विदु जी बोले—"उद्धवजी! अब आप मुझे भगवान् वासुदेव के श्र सम्बन्धियों की कुशल सुनाइये।"

आँख में आँसू भर कर उद्धवजी बोले—"विदुरजी! कि किन की कुशल पूछते हो? कितनी कुशल बताऊँ?"

यह सुनकर अत्यन्त ही स्नेह के साथ विदुरजी क लगे—"महाराज! मुझे संसारी लोगों से अब क्या प्रयोज रहा? जब मैं प्रभास क्षेत्र में विचरण कर रहा था, तब सुना था, पांडवों को छोड़कर मेरे समस्त सम्बन्धियों विनाश हो गया। वह तो अवश्यम्भावी ही था। उन सबने जान बूझकर विनाश के पथ पर पैर रखा था। समझ बूझ विषधर नागों को छेड़ा था। वे सब तो अपने पाप कर्मों से म हुए ही थे। अब मुझे श्रीकृष्ण के परिवार की कुशल सुनाइये यदुवंशी तो सभी धर्मात्मा हैं। भगवान वासुदेव उनके एक मा रक्षक हैं। उनका तो कभी अनिष्ट सम्भव ही नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर विदुरजी सबका नाम ले लेकर उद्धवजी से जिस प्रकार सबकी कुशल पूछेंगे, यह प्रकरण मैं अब आपको आगे सुनाऊँगा।"

शौनकजी बोले—"हाँ, महराज, इस प्रकरण को विस्तार से ही सुनावें। दो भक्तों का मिलन है। इनमें जो कथावार्ता हुई हो, उसे भी आप सुनावें। समय का संकोच न करें।

शौनकजी के ऐसे आग्रह को देखकर सूतजी प्रसन्न हुए और आगे का कथा प्रसङ्ग सुनाने को उद्यत हुए।

भगवान् के परिवार का कुशल प्रश्न

(१०६)

तस्य प्रपन्नाखिललोकपाना—
मवस्थितानामनुशासने स्वे।
अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य
वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥❀
(श्री भा० ३ स्क० १ अ० ४५ श्लो०)

छप्पय

सखे ! कहो अब कुशल कुशल के कारण जे हैं।
शरणागत प्रतिपाल अवनि के त्राता ते हैं॥
संकर्षण बलराम देव की कुशल सुनाओ।
हैं सुख तें बसुदेव सबनि की बात बताओ॥
उद्धवजी ! प्रद्युम्न अनु-रुद्रादिक जे स्वजन हैं।
ते यदुवंशी कुशल हैं, जे सब हरि की शरन हैं॥

बात करने की प्राचीन प्रथा यह थी, कि परस्पर में जब बातें होतीं, तो प्रश्न करने वाले का पहिले स्वागत सत्कार करते। उसकी यथायोग्य पूजा सम्मान करके विश्राम कराते;

❀ श्रीविदुरजी उद्धवजी से कह रहे हैं—'हे सखे ! हे उद्धवजी ! जो प्रधान पुरुषों का, इन्द्रादिक समस्त लोकपालों का और अपनी

र उसके समीप जाते। उसकी सम्पूर्ण बातों को बड़े धैर्य से
नते। फिर उपक्रम उपसंहार पूर्वक उनका न बहुत संक्षेप न
हुत विस्तार से उत्तर देते। इसके अनन्तर प्रसङ्गानुसार और
ी अवान्तर प्रश्नोत्तर छिड़ जाते। इस प्रकार बातें करने से रस
ा सञ्चार होता है आजकल तो न स्वागत, न सत्कार न कुशल
ेम। गये तो प्रश्न हुआ—'कहो कैसे आये जी?' वह
ो उत्तर में लाठी सी मार देता है—'एक काम से आया था।
स काम को आप कर देंगे?' वह टका सा उत्तर दे देता है, 'मुझे
वकाश नहीं।'

इतना कह कर फिर बिना उनकी ओर देखे अपने काम में
ग गये, वे अपना सूखा सा मुँह लिये हाथ हिलाते मन ही मन
से कोसते हुए चले गये। इन्होंने सोचा—'अनाड़ी लोग व्यर्थ
ी तंग करते रहते हैं—यह करो, वह करो। मुझे अपने काम से
ी अवकाश नहीं।' आने वाला सोचता है 'कैसा रूखा आदमी
ै, कितनी आशा से हम गये थे, बात भी नहीं पूछी।' ऐसी दशा
े परस्पर में रस का संचार कैसे हो? इसीलिये आजकल
रस्पर में बातें होने पर भी आनन्द नहीं आता। मिथ्या
आडम्बर बढ़ गया है। हृदय खोलकर प्रायः लोग बातें नहीं
करते। हृदय खोलकर सब से बातें हो भी नहीं सकतीं। वे तो
तभी होती हैं, जब दोनों एक मन के अभिन्न हृदय हों। विदुरजी
और उद्धवजी ऐसे ही अभिन्न हृदय सखा थे। दोनों ही
भगवान् के परम प्रिय थे। दोनों ने अपना सर्वस्व श्रीकृष्ण को

आज्ञा में अवस्थित अनुचरों का प्रिय करने के निमित्त यदुवंश में
उत्पन्न हुए हैं' उन पवित्र कीर्ति, अज, अच्युत भगवान् वासुदेव की
बातों को सुनाइये। अर्थात् सब कुछ छोड़ कर कृष्ण कथा होने दीजिये।'

ही समझ रखा था। दोनों ही पर भगवान् का महान् अनुग्रह था। उन्हें वे अपना सखा, मन्त्री, दास और स्वजन मान कर सत्कार करते थे। भक्त जो पूज्य बुद्धि भगवान् में रखता है, वैसी ही नहीं, उससे भी बढ़कर भगवान् के दासों में उसकी श्रद्धा होती है। इसीलिये विदुरजी उद्धवजी को पूज्य मानते थे और उद्धवजी विदुरजी को अपने से श्रेष्ठ समझते थे। जब दोनों प्रेम से मिल भेंट लिये, तो यमुना किनारे एकान्त में बैठ कर वार्तालाप आरम्भ हुआ।

विदुरजी ने पूछा—"उद्धवजी! आप यहाँ कब आये? आप अकेले यहाँ क्यों घूम रहे हैं? आप का मुख म्लान क्यों है? मैं ये सब बातें इसलिये पूछ रहा हूँ, कि मुझे हस्तिनापुर छोड़े बहुत दिन हो गये। तब से मुझे अपने स्वजन बन्धु बान्धवों का कोई समाचार नहीं मिला। मैंने किसी से जिज्ञासा भी नहीं की। बहुत से परिचित कहीं-कहीं पुण्य तीर्थों मे मुझे दिखाई भी दिये; किन्तु उनसे मैंने भेंट ही नहीं की। मैं अपना रूप छिपाये; वेष बदले तीर्थों में अब तक घूमता रहा हूँ। आज आप से ही भेंट हुई है। आप अब मुझे सब बन्धु बान्धवों की कुशल सुनाइये।"

उद्धवजी ने दुखी होकर कहा—"महाराज; विदुरजी! किनकी कुशल पूछते हैं आप?"

विदुरजी बोले—"उद्धवजी! ऐसे अनमने होकर क्यों बातें कर रहे हैं? जो अज, अव्यक्त होते हुए भी यदुवंश मे दो रूपों से अवतीर्ण हुए हैं, जिन्होंने अपने नाभि कमल से वेदगर्भ लोकपितामह चतुरानन को उत्पन्न किया है, उन्हीं की प्रार्थना से जिन्होंने भूमि के भार उतारने को शूकर आदि अनेक

अवतार धारण किये हैं। राजाओं के रूप में पृथ्वी पर चढ़े हुए असुरों के संहार के निमित्त तथा भक्तों को सुख देने के निमित्त, जो वसुदेवजी के यहाँ रामकृष्ण रूप से अवतीर्ण हुए हैं, उन दोनों विश्ववन्दित बन्धुओं की कुशल तो पूछनी ही क्या। किन्तु शिष्टाचार वश पूछ रहा हूँ, वे आनन्द से तो अपने कुल का पालन कर रहे हैं ?

हमारे परम सुहृद् वसुदेवजी की कुशल सुनाइये। वे तो हमारी भार्मी कुन्ती के भाई ही हैं। अपनी बहिनों पर वे कितनी स्नेह रखते हैं ? अब तक भी सदा उन्हें बच्चियों की तरह मानकर दान मान द्वारा सत्कृत करते रहते हैं ? चिर काल से उनसे हमारी भेंट नहीं हुई। वे अपने भानजों को पुत्र की तरह प्यार करते हैं और उनकी सब अभिलषित वस्तुओं को प्रदान करते रहते हैं।

भगवान् के बड़े पुत्र प्रद्युम्न की कुशल सुनाइये। उनके बराबर सुन्दर संसार के राजकुमारों में स्यात् ही कोई हो। हैं भी तो वे कामदेव के अवतार ही। अनंग ने ही अङ्ग धारण करके रुक्मिणी के गर्भ से जन्म लिया है। महारानी रुक्मिणी देवी ने उनकी प्राप्ति के लिये कितनी आराधना की थी, कितनी ब्राह्मणों की लगन के साथ सेवा की थी। रुक्मिणी ने ही नहीं, उनके पति ने भी बड़ी तपस्या की थी। उद्धवजी ! गृहस्थियों को पुत्र का मुख देखने की कितनी उत्कट अभिलाषा होती है, इसका अनुमान इसी से लगता है, कि ईश्वरों के भी ईश्वर अवतारों के भी अवतारी साक्षात् भगवान् वासुदेव ने पुत्र प्राप्ति के लिये हिमालय में जाकर आशुतोष भगवान् भोलानाथ की बहुत दिनों तक शरीर को सुखाकर आरा-

घना की थी। इसी से प्रद्युम्नजी का जन्म हुआ। वे मूर्तिमान् कामदेव होने पर भी शूरवीर और महान् बलशाली हैं। समस्त यादवों की सेना के वे ही प्रधान सेनापति हैं; जिनके भुजबल से निर्भय होकर समस्त यदुवंशी स्वर्गीय सुखों का उपभोग कर रहे हैं।

उद्धवजी! मैं भूल जाता हूँ, सबसे पहिले आप महाराज उग्रसेनजी की कुशल सुनाइये, जिन्होंने अपने दुष्ट पुत्र के कारण कारावास में रहकर विविध कष्ट उठाये थे। जो अपने कुल-कलंक पुत्र के कारण सदा दुखी रहते थे। वे अब सुख पूर्वक तो हैं न? देखो, भगवान् ने कंस को मार कर भी स्वयं राज्य सिंहासन ग्रहण नहीं किया। कंस के पिता अपने मातामह को ही सात्वत, वृष्णि, भोज, और दाशार्ह वंशी यादवों का अधिपति बनाया। स्वयं भगवान् जिनके सेवक बनकर सिंहासन के नीचे बैठते हैं और हाथ जोड़ कर, खड़े होकर जिनके प्रश्नों का उत्तर देते हैं, उन यादवों के स्वामी उग्रसेन जी का कुशल सुनाइये।

हाँ, जाम्बवती सुत साम्ब के सभी समाचार सुनावें। वे कितने सुन्दर हैं, कितने कोमल प्रकृति के हैं, उनके सौन्दर्य में जादू है। कुलकामिनी भी उनके अनुपम रूपलावण्य को देखकर धैर्य छोड़ देती हैं। माता होने पर भी भगवान् की षोडस सहस्र महिषियों का मन जिन्हें देखकर चंचल हो जाता है, जिन्हें पूर्व जन्म में पार्वतीजी का प्रिय पुत्र बनने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है, जो स्वामी कार्तिकेय नाम से सुरों के सेनापति रह चुके हैं, जिन्हें जाम्बवती ने बहुत से बड़े-बड़े व्रत करके प्राप्त किया है, जो गुण तथा शील में सर्वथा

श्रीहरि के ही समान हैं। वे श्रीकृष्ण के तनय अत्यन्त स्निग्ध अङ्गों वाले, सुकुमार, शूरवीर, महारथियों में भी प्रशंसनीय साम्ब सकुशल तो हैं ?

सात्यकिजी के समाचार सुनाइये। उनके लिये तो जो कुछ कहा जाय, वही कम है। वे तो भगवान् के बाह्य प्राण हैं भगवान् उनके बिना नहीं रहते, वे भगवान् को छोड़ कर एक क्षण को भी अन्यत्र नहीं जाते। इस प्रकार उन्होंने भगवान् की उस परमगति को सुगमता से प्राप्त कर लिया है, जो बड़े-बड़े जपी, तपी, ध्यानी और योगियों को भी दुर्लभ है। भक्त होने पर भी जो शूरवीर हैं, गांडीव धनुर्धारी अर्जुन के प्रियशिष्य हैं, भगवान् के परम कृपापात्र हैं, वे तो सुख पूर्वक रहते हुए श्याम-सुन्दर की श्रद्धा से सेवा करते हैं न ?

उद्धवजी! आपके पधारने के पूर्व, इस व्रज रज को देखकर मुझे अक्रूरजी की बड़ी स्मृति आ रही थी। देखिये, वे कंस के दूत बन कर आये थे, किन्तु आते-आते मार्ग में ही जहाँ उन्होंने इसी व्रज रज, वज्र, अंकुश, ध्वज, कमल आदि चिह्नों से चिह्नित भगवान् नन्दनन्दन के अवनि पर उभरे हुए पाद चिह्न देखे, कि विह्वल होकर वे रथ से कूद पड़े और प्रेम में पागल बने उसी व्रज रज में लोटने लगे। भगवान् में कितनी उनकी भक्ति है, कैसा अटूट स्नेह है, कितनी ऐकान्तिकी निष्ठा है ? उन सबका वर्णन करना मेरी बुद्धि के बाहर की बात है। जो अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के कारण यादवों के दानाध्यक्ष हैं, अपने पिता श्वफल्क की ही भाँति शुभ दर्शन और मंगलमय हैं, उन कृष्ण किंकर श्रीअक्रूरजी की कुशल क्षेम सुनाइये।

वसुदेवजी की सब पत्नियाँ तो कुशलपूर्वक हैं ? हमें तो द्वारका गये बहुत दिन हो गये। देवकी जी कितनी

भाग्यवती हैं ? उन्होंने श्रीभगवान् मधुसूदन को उसी प्रकार उत्पन्न किया, जिस प्रकार वेदत्रयी यज्ञ के विस्तार वाले अर्थों को उत्पन्न करती है अथवा जैसे अरणी अग्नि को उत्पन्न करती है। सीपी जैसे मोती को, प्रभा जैसे प्रकाश को, पृथ्वी जैसे गन्ध को, रसायन जैसे सुवर्ण को, लता जैसे सुगन्धित पुष्प को, अथवा सिंहनी जैसे प्राथमिक पुत्र को उत्पन्न करती है और इन सबसे जैसे इनकी जननी धन्य हो जाती है, वैसे ही देवकीजी श्रीश्यामसुन्दर को अपने उदर में धारण करके धन्य हो गई। वे तो अपनी झुंड की झुंड बहुओं के साथ सुख पूर्वक हैं न ?

उपासना करने वाले मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—इन अन्तःकरण चतुष्टय के अधिष्ठाता अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, वासुदेव और संकर्षण इनको मानते हैं, सो मन के जो अधिष्ठातृ देव अनिरुद्ध हैं, जिन्होंने वाणासुर के यहाँ जाकर उसकी पुत्री ऊषा से विवाह किया था, जो अपने कार्यों से सदा शरणागतों को सन्तुष्ट करते रहते हैं वे सपरिवार सकुशल हैं न ?

अब भैया, सब यादवों के नाम तो मुझे याद नहीं हैं। एक दो हों तो याद भी रखूँ। ५—६ कोटि सब के सब सुने जाते हैं। उनमें से मुख्य-मुख्य की कुशल बताइये। जैसे हृदीक, चारुदेष्ण, गद तथा सत्यभामाजी के सभी सुत सकुशल तो हैं ?

यादवों और पांडवों का परस्पर में सम्बन्ध ही नहीं है, हार्दिक प्रेम भी है। पांडवों के प्राण तथा जीवनाधार श्रीश्यामसुन्दर ही हैं, उनके आश्रय में रहकर उन्होंने अपनी गई हुई राज लक्ष्मी फिर से प्राप्त कर ली है। उन पांडवों का समाचार

तो सदा श्रीकृष्ण के समीप आता ही रहता होगा। आप मुझे धर्मराज युधिष्ठिर के भी समाचार सुनावें। धर्मराज तो अब सुना है, सम्राट् हो गये हैं। सम्राट् होने पर भी उनकी बुद्धि धर्म में ही रहती है न? राज्यलक्ष्मी के अभिमान में वे सम्माननीय पुरुषों का स्वल्प सम्मान या तिरस्कार तो नहीं करते? अपने राज्य का पालन वे धर्मपूर्वक करते हैं न?

उनके छोटे भाई भीम बड़े क्रोधी स्वभाव के हैं? वे कौरवों की क्रूरता के कारण सदा क्रुद्ध हुए काले सर्प की भाँति लम्बी-लम्बी विषैली साँस छोड़ा करते थे। अब तो उनका क्रोध सफल हो गया। सुना है, उन्होंने धृतराष्ट्र के सौ के सौ पुत्रों को अपनी गदा से मारा है। अपने शत्रुओं को मारकर अब वे क्रोधहीन होकर शान्त हो गये हैं न? उनके मन में अब कौरवों के प्रति कुछ क्रोध शेष तो नहीं रहा है?

गांडीवधारी कुन्तीनन्दन पांडु भरतवंश की कीर्ति बढ़ाने वाले संसार के अद्वितीय योद्धा अर्जुन के भी कुशल समाचार सुनाइये। मनुष्यों की तो कौन कहे, जिन्होंने अपने बाणों की वर्षा से त्रिपुरारि भगवान् भूतनाथ को भी सन्तुष्ट किया था, जो दोनों हाथों से समान वेग से बाण छोड़ते हैं। वे धनञ्जय अपने शत्रुओं को मार कर प्रसन्नता पूर्वक धर्मराज का अनुगमन तो करते हैं न?

भैया, उन नकुल, सहदेव की कुशल सुनाओ; जो सौभाग्य वश सभी भाइयों में छोटे हैं और अपने सभी बड़े भाइयों के सदा अनुकूल चलने वाले हैं। जिन पर कुन्ती ने, धर्मराज ने, भीम और अर्जुन ने अपना समस्त प्यार उड़ेल दिया है। सभी लोग उनकी उसी प्रकार रक्षा करते हैं, जैसे पलकें आँखों

की रक्षा करती हैं। उद्धवजी, वे छोटे धन्य हैं जिन्हें बड़ों का प्यार दुलार प्राप्त है। वे बड़े होने पर भी सदा बच्चे ही बने रहते हैं। बड़ों की छत्र-छाया में रहने से कितनी निश्चिन्तता रहती है, यद्यपि वे दोनों अश्विनीकुमारों के वीर्य से उत्पन्न माद्री के पुत्र हैं, किन्तु कुन्ती ने कभी उन्हें पराया नहीं समझा। वे सगे पुत्र की भाँति ही सदा उनका लालन-पालन करती हैं। वे पाँचों को अपना ही पुत्र कहती हैं, नकुल, सहदेव लड़ने में भी बड़े कुशल हैं, उन्होंने शत्रुओं से राज्य छीनने में अपने भाइयों की उसी प्रकार सहायता की होगी, जिस प्रकार रथ के पहिये रथ को गन्तव्य स्थान में पहुँचाने में सहायता करते हैं।

उद्धवजी! पांडवों की माता कुन्ती का क्या हाल चाल है? देखो, भाग्य का कैसा विचित्र खेल है? जिसके इतने शूर-वीर पति हों, कि जो अकेले ही धनुष लेकर समस्त पृथ्वी को जीत लाये थे, जिसके ऐसे-ऐसे पुत्र हों, जो जीवित ही स्वर्ग जाकर लौट आये हों और जिन्होंने अपने अस्त्र शस्त्र से सदा शिव को भी सन्तुष्ट किया हो, वह विचारी वर्षों के लिये विपत्ति की मारी वन-वन भटकती फिरी। विधवा होने पर भी वह सती नहीं हुई। इसी आशा पर जीवन धारण करती रहीं, कि बड़े होने पर मेरे बच्चे राजसिहासन के अधिकारी होंगे? उस विचारी को तो जीवन भर विपत्तियों का ही सामना करना पड़ा। उसने श्यामसुन्दर से वरदान भी यही माँगा था। वांछा कल्पतरु भगवान ने उसकी मनोकामना पूर्ण की। सदा विपत्तियों के बादल ही उसके सिर पर मंडराते रहे। उसकी क्या कुशल पूछूँ? वह तो कृष्ण कृपा से विपत्तियों में अपनी कुशल मानती है। उन अपनी मामी की मुझे चिन्ता नहीं।

हाँ, उद्धवजी ! मुझे अपने बड़े भाई अन्धे धृतराष्ट्र का अवश्य शोक है। बुढ़ापे में उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, माया मोह ने उन्हें कसकर जकड़ लिया है। वे इष्ट-अनिष्ट का विचार नहीं करते। अपने दुष्ट पुत्रों के हाथ के खिलौने बन गये हैं। आप ही सोचिये, राज्य के अधिकारी पांडु थे। जब वे परलोक वासी हो गये, तो न्याय से उनके पुत्रों को राज्य दे देना चाहिये था। यह न करके उन्होंने उनके अनाथ बच्चों को, विधवा पत्नी को घर से निकाल दिया। वे आश्रय हीन होकर चिरकाल तक भीख माँगकर निर्वाह करते हुए इधर-उधर भटकते फिरे। एक अपने छोटे भाई के पुत्रों के साथ उनका ऐसा व्यवहार, एक मैं भी उनका भाई था। सदा उनके कल्याण में ही लगा रहता था। उत्तम से उत्तम सम्मति उन्हें देता रहता था, सो मेरा भी तिरस्कार करके मुझे घर से निकाल दिया। मुझे अपराधी की भाँति देश निकाला दे दिया।

आप यह न समझें कि इस अपमान से दुःखी होकर मैं उनकी बुराई कर रहा हूँ। जीव की क्या सामर्थ्य है, कि वह दूसरे को दुख-सुख दे सके। यह सब तो उन लीलाधारी की लीला है, नटवर की कलाबाजी है, अन्तर्यामी की प्रेरणा है। उन्हें जिससे जब जो कराना होता है, उसकी तब तैसी ही बुद्धि बना देते हैं। उसे वैसी ही बात सुझा देते हैं। वे स्वयं अजन्मा होकर जन्म लेते से दिखाई देते हैं। पुरुषोत्तम होते हुए भी साधारण मानवोचित लीला करते हुए से दीखते हैं। मेरे ऊपर तो उन्होंने कृपा ही की। वे अन्यायी लोग मेरा स्वागत सत्कार करते, तो सम्भव है मैं जीवन भर उनके ही यहाँ फँसा रहता। उनके अन्यायों का भी; अनिच्छा पूर्वक ही सही समर्थन करना पड़ता। जगदाधार श्यामसुन्दर ने बड़ी अनुकम्पा की। उनकी

बुद्धि ऐसी बना दी। अब मैं उन महामहिम की अद्भुत महिमा का अवलोकन करता हुआ, उन्हीं की कृपा से दूसरों की दृष्टि से अलग रह कर, आनन्दपूर्वक तीर्थों में भ्रमण करता-फिरता हूँ। भगवद् धामों में आनन्द लेता फिरता हूँ।

उद्धवजी! मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है, कि जो निग्रह अनुग्रह करने में सर्व समर्थ हैं, उन प्रभु ने कौरवों को इन क्यों कर दिया? उन्होंने इतने-इतने बली और मद में मत्त हुए महीपों को मृत्यु का द्वार दिखा दिया, बहुतों को स्वयं दिया, बहुतों को दूसरों से मरवा दिया, अपने भक्त पांडवों साथ इतना अपराध करने पर भी उन्होंने कौरवों को स्वयं मारा। उनके अत्याचारों को देखते रहे, जब उनके पापों घड़ा भर गया, अन्याय पराकाष्ठा पर पहुँच गया, दुष्टता स को पार कर गई, तो सबको एक साथ ही उसी प्रकार दिया, जैसे चैत्र और कार्तिक में पके हुए खेतों को कटवा लेता है।

भगवान् को जन्म लेने की क्या आवश्यकता है? वे अजन्मा हैं, कर्मों से पृथक् हैं। वे अपनी इच्छा से का परित्राण करने के लिये, दुष्कृतियों का नाश करने के लिये, धर्म की संस्थापना करने के लिये युग-युग में नाना अवतारों को धारण करके, उन-उन योनियों की सी क्रीड़ायें करते हैं। कभी-कभी उनसे विलक्षण लोकोत्तर प्रभाव भी दिखाते हैं। उनके अवतार के धर्म रक्षण और अधर्मियों का विनाश ये तो गौण कार्य हैं वास्तव में तो वे भक्तों को सुख देने के ही निमित्त इस अवनि पर शरीर धारण करते हैं। कर्म बन्धनों के अधीन होकर तो भक्त भी जन्म नहीं लेते, फिर भगवान् की तो बात

सरी ही है। भगवान् मानवीय तन में प्रकट होकर कर्णों को ख देने वाली, हृदय में अमृत रस का संचार करने वाली रामय लीलायें करते हैं। अतः उद्धवजी! और बातें तो मैंने से ही शिष्टाचार के वशीभूत होकर पूछ लीं। अब यथार्थ त तो यह है, मेरे पूछने का मुख्य हेतु यह है, कि जो अपनी रण में आये भक्तों का समस्त इन्द्रादि लोकपालों का और पने सेवकों का प्रिय करने के निमित्त ही यदुकुल में अवतीर्ण ए हैं, उन परमकीर्ति अजन्मा भगवान् वासुदेव की बातें नाइये।'

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो! इतना हकर विदुरजी चुप हो गये और वे एकटक उद्धवजी के श्री ख की ओर निहारने लगे।"

छप्पय

पांडव प्रभु के भक्त सबनि की कुशल सुनाओ।
अंध-बन्धु धृतराष्ट्र, करें का सब समुझाओ॥
करिकें दर्शन यादि आपके आये सबई।
स्मृति पट पै खिंचे चित्र जीवित से अबई॥
अथवा छोड़ो सबनि कूँ, चर्चा हरि ही की करो।
तृषित हृदय की शांति हित, कर्णनि हरि गुनतें भरो॥

विदुरजी के प्रश्न से उद्धवजी को भाव समाधि

(१०७)

पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलद्दृशा शुचः ।
पूर्णार्थो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसंप्लुतः ॥
शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः ।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रत्याहोद्धव उत्स्मयन् ॥*
(श्री भा० ३ स्का० २ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

मुनि उद्धव हरिनाम देह की सुधि बिसराई ।
नाम धामतें रूप यादि लीला है आई ॥
गद्गद बानी भई रूप सागर महँ न्हाये ।
रोमाञ्चित वपु भयो देह बन्धन सब आये ॥
भूले या संसार कूँ, नयन मूँदि तन्मय भये ।
नित्य धाम वृन्दाविपिन, ध्यान धरत मन तें गये ॥

कुछ शंकायें तो अपनी निजी होती हैं, उन्हें प्रायः मुमुक्षु पुरुष गुरुजनों के सन्मुख श्रद्धा सहित निवेदन करते हैं और गुरुजन उनका यथोचित उत्तर देकर शास्त्रीय पद्धति से समाधान

---

*विदुरजी के श्रीकृष्ण सम्बन्धी प्रश्न पूछने पर उद्धवजी के सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हो गये। ध्यान के कारण उनके नेत्र बन्द थे,

करते हैं। कुछ प्रश्न पञ्चायती होते हैं। पूछने वाले को वास्तव में वह शंका होती नहीं; किन्तु सर्व साधारण को वह शंका होती है, किन्तु सभी अपनी शंका को विधि पूर्वक व्यक्त नहीं कर सकते। हृदयगत भावों को यथावत् प्रकट कर देना, यह भी एक कला है और वह किसी भाग्यशाली को ही प्राप्त होती है। कोई हमारे मनोगत भावों को समझ कर व्यक्त कर देता है, और यदि वे गोपनीय भाव न हों, तो हमें बड़ी प्रसन्नता होती है और कह देते हैं, 'अजी, यही तो मुझे शंका थी। आपने मानों मेरे मन की बात ही कह दी।' महर्षि शौनक और महाराज परीक्षित् दोनों ही सिद्ध पुरुष हैं। दोनों ने ही बाल्यकाल से—अनेक जन्मों से—भगवद् भक्ति करते-करते यह दशा प्राप्त की है। वे जो भी प्रश्न करते हैं, वह अपने लिये नहीं, संसार के हित के लिये। अपने उपकार के निमित्त नहीं; लोकोपकार की दृष्टि से पूछते हैं। उन्हें स्वयं कोई शंका नहीं, किन्तु वे संसारी लोगों का प्रतिनिधित्व करके पूछते हैं, वे हम सब संसारी लोगों के भाव व्यक्त करने वाले हैं। शंकायें पहिले कभी उन्हें रही होंगी, इसलिये वे शंका करना भी जानते हैं कि कौन सी कहाँ करनी चाहिये।

अनेक जन्मों से साधन करते-करते भक्त की ऐसी दशा हो जाती है, कि उन्हें कोई इधर-उधर की बात प्रिय ही नहीं लगती,

---

अतः उनमें से प्रेमाश्रु बहने लगे। उद्धवजी को इस प्रकार प्रेम प्रवाह में डूबे हुए देखकर। विदुरजी समझ गये, कि ये महाभाग कृतार्थ हो चुके हैं। कुछ देर के अनन्तर उद्धवजी अपने मन को धीरे-धीरे भगवद् लोक से मनुष्य लोक में ले आये। उन्होंने अपने बहते हुए आँसुओं को पीताम्बर से पोंछा, फिर बड़े विस्मय के सहित विदुरजी से बोले।

वे श्री कृष्ण कथा के व्यसनी बन जाते हैं, उनके रोम-रोम में भगवत् चर्चा सुनने का रोग उत्पन्न हो जाता है, जैसे क. पुरुषों को कामिनी की कथा के अतिरिक्त कोई कथा प्रतीत ही नहीं होती। जैसे व्यसनी को अपने व्यसन के अतिरिक्त अन्य वार्ता अच्छी नहीं लगती वैसे ही भगवत् भक्तों को या तो भगवान् की कथा प्रिय होती है या भागवतों की। विदुर जी जब उद्धवजी से यदुवंश के छोटे-बड़े, बहू, पतोहू, बाल-गोपाल सभी की कुशल पूछी, तो महाराज परीक्षित् को सन्देह हुआ और वे बोले—"प्रभो! महाभागवत विदुरजी ने ये कैसे प्रश्न कर डाले, कि उसकी कुशल बताओ, उसके समाचार बताओ, उसकी राजी खुशी कहो। एक भगवान् के सम्बन्ध में पूछ लेते। सभी पैर हाथी के पैर के भीतर समा जाते हैं। भगवान् की कुशल पूछली—मानों सब की पूछली। यह उन्होंने किया नहीं, सब के नाम गिना डाले। यह क्या बात है? इसका कारण बताइये।"

यह सुन कर श्रीशुक हँसे और बोले—"राजन्! यह प्रश्न आपके अनुरूप ही है। विदुरजी के इतने प्रश्नों के अनेक कारण हैं। पहिला तो यही की भागवत लोग भगवान् से भी बढ़कर भक्तों को मानते हैं। भक्तों द्वारा ही तो भगवान् मिलते हैं, बिना उनके अनुचरों की पूजा किये प्रभु के पास प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसलिये विदुरजी ने विस्तार से भगवान् के शरणागतों की कुशल पूछी। दूसरी बात यह है कि बात चलाने का प्रकार भी इसी भाँति होता है, सर्व प्रथम तो उन्होंने भगवान् और बलदेवजी की कुशल पूछी। बिना सोचे समझे उनके मुख से यह बात स्वभावानुसार निकल गई।

क्योंकि उनके इष्ट ही भगवान् वासुदेव थे; फिर उन्हें ध्यान आया, कि अरे, मैं तो शिष्टाचार का उल्लंघन कर गया। पहिले बाप की कुशल पूछी जाती है; तब बेटे की इसीलिये उस प्रश्न को अधूरा सा ही छोड़ कर झट से पूछ बैठे—'वासुदेवजी तो अच्छे है ?' फिर उसी प्रसङ्ग में जिस जिसका नाम याद आता गया पूछते गये। फिर पांडवों की पूछी, धृतराष्ट्र की पूछी, पुरानी बातें याद आईं। तब वे सम्हले और सोचने लगे—अरे, मैं यह क्या गोरखधंधा पूछने लगा। मुझे इन कौरव और धृतराष्ट्र से क्या लेना ? इसलिये उन्होंने अन्त में इस पर वल दिया—उद्धवजी ! और सब की चर्चा छोड़ो। तुम तीर्थकीर्ति श्यामसुन्दर की बातें सुनाओ।'

एक बात और भी रस वृद्धि के लिये पहिले इधर-उधर की बातें कह कर, तब मुख्य बात कहने से उस रस की वृद्धि होती है। श्रोता वक्ता दोनों की ही उत्कठा होती है। उद्धवजी विदुरजी के बालसखा थे वे उद्धवजी का स्वभाव जनते थे, कि अकस्मात् मैंने भगवान् का ही प्रश्न कर दिया, तो उद्धवजी को भाव समाधि हो जायगी। इसलिये पहिले इधर-उधर की बातें कह कर उनकी कृष्ण में समाहित हुई वृत्ति को बिखेर दूं। तब भगवान् का प्रश्न करेंगे, जिससे एक साथ वे भाव-सागर में निमग्न न होने पावेंगे, किन्तु उद्धवजी ने तो वे सब नाम सुने ही नहीं। उन्होंने तो, बस, अन्तिम एक ही शब्द सुना, 'हे सखे तीर्थकीर्ति भगवान् की बातें कहो।' जो भय विदुरजी को हो रहा था, वही हुआ। भगवान् का नाम सुनते ही उनके धाम रूप और लीलाओं का एक साथ ही स्मरण हो आया। उत्कंठा वस उन्हें वहीं अन्तिम लीला 'स्वधाम-गमन' स्मरण हो उठी। उसके स्मरण मात्र से वे

विह्वल हो गये, उनका गला भर आया, स्वर गद्गद् हो गया, प्रयत्न करने पर भी कुछ न बोल सके! विदुरजी के इतने प्रश्नों में से एक का भी उत्तर न दे सके।"

इसपर श्रीपरीक्षितजी ने श्रीशुक मुनि से पूछा—"प्रभो! यह तो प्रेम की पराकाष्ठा हो गई। उद्धवजी का प्रेम तो अद्भुत निकला। इतना विलक्षण प्रेम, कि नाम श्रवण मात्र से समाधि लग गई? प्रश्न सुन कर दो चार भगवान् की लीलाओं का वर्णन करते। सब के कुशल समाचार बताते। कथा प्रसङ्ग में प्रेमवश मूर्छा तो प्रायः ऊँचे भक्तों को होती हुई देखी गई है, किन्तु केवल नाम स्मरण से ऐसी दशा तो आप उद्धवजी की बता रहे हैं। किस साधन द्वारा उन्हें यह दशा प्राप्त हुई।"

यह सुनकर श्रीशुक मुस्कराये और बोले—"राजन्! प्रेम कुछ सौदा तो है नहीं कि पैसा फेंका और तुरन्त खरीद लाये। यह तो जब भगवत् कृपा हो, अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए संयोगवश जीव भगवान् की ओर उन्हीं की प्रेरणा से बढ़े और उन्हीं में मन लगाकर उन्हीं की परिचर्या में अपना सब समय व्यतीत करे, तभी उसे ऐसे उत्कट प्रेम की उपलब्धि होती है। जो भगवज्जन हैं, भगवान ने जिन्हें अपना कह कर वरण कर लिया है, वे जन्म लेते ही पूर्व जन्मों के संस्कारों के अनुसार भगवत् पूजन में लग जाते हैं। गो बच्चा पैदा होते ही माँ की पूँछ को क्यों नहीं पीने लगता? पास में पड़ी चीजों को क्यों नहीं खाता, स्तन की ही ओर क्यों झपटता है? किस महा विद्यालय के महा अध्यापक ने उसे शिक्षा दी, कि इन स्तनों में दूध बनता है, यों हुड्डमार कर उसे पीना होता है। किसी के न सिखाने पर जैसे वह पूर्व जन्मों के संस्कार वश,

स्तनों को ही पीने लगता है, उसी प्रकार अनेक जन्मों में भक्ति करने वाले भागवत जन वाल्यकाल से वही खेल खेलने लगते हैं। भगवान् के सुमधुर नामों के उच्चारण से ही वे बोलना आरंभ करते हैं। बच्चों के साथ भी वही गोपालजी का ही खेल खेलेंगे। ईंट, पत्थर जो भी मिल जायँ, उन्हीं में गोपालजी की भावना से पूजा प्रारम्भ कर देंगे। अम्मा दूध दुहने जाय, तो उसके पीछे छोटी घण्टी लेकर जाते हैं, 'अम्मा! मेरे गोपालजी को दूध निकाल दे।' बच्चे का विनोद समझ कर माँ निकाल देती है। भक्त बालक उसे ले आते हैं। इधर उधर से फूल तोड़ लाते हैं, कोई जंगली फल मिला तो उसे भी पेड़ पर चढ़ कर ले आते हैं। हरे-हरे चौड़े पत्ते बच्चों की सहायता से ले आते हैं। पत्तों को बिछाकर उस पर अपने गोपालजी को पधारते हैं। माँ ने पीतल के छोटे बर्तन मँगा दिये तो उनसे, नहीं तो मिट्टी के ही जो पात्र बना लेते हैं। गोपाल को ही भोग लगाना, उन्हीं से खेलना, उन्हें ही लाड़ लड़ना यही उनका दैनिक व्यापार रहता है। राजन्! आप तो सब जानते हैं, आप भी तो जब छोटे थे, तब ऐसे ही खेल खेला करते थे। यही भगवत् पूजा साधन रूपी खेल आज आपके लिके सत्य हो गया। वही साधन वाल्यकाल से उद्धवजी ने किया था।

महाराज! उद्धवजी के विषय में मैंने अपने पिताजी से सुना है, जब वे पाँच वर्ष के ही थे, तो बच्चों को लेकर भगवान् की ही सुमधुर लीलाओं का अनुकरण करते, उन्हीं का गान करते, उन्हीं के नाम का संकीर्तन करते, उन्हीं की पूजा करते, धूप, दीप नैवेद्य से उन्हीं की आराधना करते। खेल-खेल में मिट्टी का मन्दिर बना कर मनमोहन की मधुर मूर्ति स्थापित करते। प्रातःकाल तड़के ही उठ जाते और यमुना पुलिन में चले

जाते। दिन चढ़ जाता, माँ चिन्तित होती—बच्चे ने अभी तक कलेवा भी नहीं किया है। ढूँढती हुई आती और प्रेम कोप से कहती—'अरे ऊधो! भैया, तू तो खेल में ऐसा मग्न हो जाता है, कि खाना पीना सभी भूल जाता है। देख तो सही, कितना दिन चढ़ गया है, सब लड़के दो दो बार खा पी चुके, तैंने अभी कलेवा भी नहीं किया है। बेटा! ऐसा खेल अच्छा नहीं। चल, थोड़ा खा पी ले, तब आकर खेलना। दिन भर पड़ता है।'

माता के ऐसे प्रेम भरे वचन सुन कर भी उद्धवजी अपनी पूजा को अधूरी छोड़ कर जाने को राजी न होते। वे माता से कह देते—'मा! तू चल! मैं अभी आता हूँ। देख, तुझसे पहिले घर पहुँचूंगा।'

माँ डाट कर कहती—'तू यहाँ ऐसी कौन सी कमाई कर रहा है? तेरे पास कौन सा विमान है, कि मुझसे पहले पहुँच जायगा।

तब उद्धवजी कहते—'माँ! देख, अभी मैंने अपने गोपालजी को भोग नहीं लगाया। चार लडुआ दे दे, उनका भोग लगा के प्रसाद बाँट कर तब आऊँगा। मा तो सब जानती थी अंचल में बंधे लड्डू निकालकर देती और कहती—'जल्दी से भोग लगा ले—और चल!''

उद्धवजी पलाश के पत्तों पर लड्डू रख कर गोपालजी के सामने रखते। अपने डुपट्टा का परदा करते और आँख मूंद कर भोग लगाते। उनकी माँ पास में खड़ी-खड़ी मन ही मन बड़ी सिहाती। देखो, मेरे बच्चे के बाल्यकाल से ही कैसे शुभ संस्कार हैं। जब भोग लग जाता प्रसाद बाँट देते, तब माता के बहुत कहने पर जावे। ऐसी दशा बाल्यकाल से ही उद्धवजी की

थी। यही सब करते-करते उन्हें साक्षात् श्यामसुन्दर की प्राप्ति हो गई। पहिले जो पूजा प्रतिमा में करते थे वह प्रत्यक्ष करने लगे। पहिले जो खेल था, वह अब कर्तव्य बन गया। वे भगवान् वासुदेव के कंठ के बहुमूल्य हार बन गये। ऊधो जी जहाँ श्यामसुन्दर को विठावें वहाँ बैठते जहाँ उठावें उठते। छाया की तरह उद्धवजी भगवान् के साथ रहते। उनकी न कहीं रोक थी न टोक। महलों के भीतर दनदनाते हुए घुस जाते। उनसे न रानियां परदा करतीं न भगवान् ही संकोच करते। पलंग पर प्रिया के साथ श्यामसुन्दर बैठे हैं। उद्धवजी बिना संकोच सेवा में उपस्थित हैं। वे श्यामसुन्दर के बाहरी प्राण थे। कोई भी छोटी से छोटी बड़ी से बड़ी बात होती भगवान् अबोध बच्चों की तरह पूछते—'उद्धव! इस विषय में हमें क्या करना चाहिए?' तब ये भी हाथ जोड़ कर बिना संकोच कह देते—'प्रभो! इस अवसर पर यह करना उचित है।' भगवान् वही करते।

इस प्रकार सेवा करते करते अब उद्धवजी बूढ़े हो गये हैं। उनकी सौ वर्ष से भी अधिक आयु हो चुकी है। श्यामसुन्दर स्वधाम को पधार चुके हैं, उन्हीं के शोक से सन्तप्त हुए कस्तूरी के मृग की भांति वे इधर उधर घूम रहे हैं। आज अपने बालसखा विदुरजी को एकान्त में वृन्दावन के यमुना पुलिन में पाकर प्रसन्नता का अनुभव करने लगे हैं। मानों श्यामसुन्दर ही मिल गये। किन्तु जब विदुरजी ने कहा—'भगवान् वासुदेव की बातें सुनाओ'! तब तो उन्हें वही लीला

स्मरण हो आई। वे कुछ कहना चाहते थे, गला भर आया, वे कुछ कह न सके। बोलना चाहते थे वाणी रुद्ध हो गई। अपने स्वामी के चरणकमलों की स्मृति हो आने के कारण प्रेम में इतने आकुल हो गये, कि उत्तर देना उनके लिये अशक्य हो गया। उनकी वृत्ति एक साथ ऊपर चढ़ गई, वे तीव्र भक्ति योग के कारण श्रीकृष्ण-स्मृति रूप अमृत सिन्धु में निमग्न होकर आत्म-विस्मृत हो गये। उन्हें शरीर की सुधि नहीं रही। उनके सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हो गये। झरबेरिया के बेरों के समान उनके रोम-रोम में फफोले से पड़ गये। शरीर के समस्त रोम सेह के काटों की भाँति शरीर पर खड़े हो गये। दोनों नेत्र उसी प्रकार मुँद गये जिस प्रकार सूर्य के अस्त हो जाने से कमल मुँद जाता है। उनमें अश्रु बिन्दु उसी प्रकार झरने लगे, जिस प्रकार जमा हुआ पाला कमल के कोश से पिघल कर बहने लगता है। वे पाषण की प्रतिमा की तरह निश्चेष्ट होकर भगवान् के ध्यान में मग्न होकर इस लोक को भूल गये। उनका मन भगवत् लोक में भगवान् का साक्षात्कार करने लगा।

उनकी ऐसी प्रेम दशा को देख कर विदुरजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा—वे सोचने लगे, अहा ? ये उद्धवजी ही धन्य हैं। इनकी सेवा सफल हो गई। इनका साधन साध्य मिल गया, इन्हें अपनी क्रिया का फल प्राप्त हो चुका—ये कृत्य-कृत्य हो चुके, इन्होंने मनुष्य शरीर धारण करने का फल पा लिया।

अब क्या करें? विदुरजी को तो श्रीकृष्ण कथा की चटपटी पड़ी थी। वे समाधि से श्रीकृष्ण-कथा को श्रेष्ठ समझते थे। रस के लम्पट विदुरजी उद्धवजी के कमल रूपी मुख से निकले मधु को पीकर मत्त होना चाहते थे। अतः उन्होंने उनके कान में कमनीय श्रीकृष्ण नाम उच्चारण करना आरम्भ कर किया। वे बार-बार उनके श्रोत्रों के समीप 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।' इन मधुर नामों का कीर्तन करने लगे। इस से धीरे-धीरे वे भगवत् लोक से मर्त्यलोक की ओर आने लगे। उनकी चित्तवृत्ति मानव संसार की ओर लौटने लगी। उन्हें कुछ-कुछ देहानुसंधान होने लगा। सामने कल-कल करती हुई कालिन्दी दिखाई दी। ब्रज की वे झूमती हुई झुकी ललित लतायें दृष्टिगोचर हुईं। सामने बैठे हुए विदुरजी भी दिखाई देने लगे। इस प्रकार वे बहते हुए आँसुओं को अपने पीताम्बर से पोंछ कर, विदुरजी से कुछ कहने को प्रस्तुत हुए।

श्रीशुक महाराज परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् का प्रश्न करते ही, उद्धवजी की दशमी दशा के समान दशा हो गई। उच्च भक्तों की ऐसी ही दशा होती है। अब जिस प्रकार उद्धव और विदुर सम्वाद हुआ, उसे मैं आगे आपके सम्मुख वर्णन करूँगा। अब आप सम्हल जाइये, दो परम भागवतों का सम्वाद है, जिसमें से श्रीकृष्ण रस रूपी सरिता का प्राकट्य होगा।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं "मुनियों! इतना कह कर मेरे गुरुदेव भी थोड़ी देर के लिये विदुर और उद्धवजी के प्रेम की स्मृति आते ही मौन हो गये।"

छप्पय

उद्धव देखे विकल विदुर पहिले घबराये।
प्रेम दशा पहिचानि कान महँ नाम सुनाये॥
देखी दशवीं दशा बहुत मन महँ हरषावें।
जानि कृतारथ कृष्ण-कृष्ण कहि चेत करावें॥
मङ्गलमय मधुमय मधुर, मन मोहन के नाम सुनि।
शनैः शनैः सम्हले सखा, परत श्रवन महँ मधुर धुनि॥

श्रीकृष्ण कथा का उपक्रम

[१०८]

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह ।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम् ॥
दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

बोले उद्धव सम्हरि धरी सिर रज व्रज थल की ।
बन्धु विदुर ! अब कहूँ कुशल कैसे यदुकुल की ॥
भाग्यहीन यह लोक अधिक यदुवंशी तामें ।
पहिचाने प्रभु नहीं भये परगट कुल जामें ॥
अजी, कुशल अब कहाँ वह, यादवेन्द्र के सँग गई ।
समृधिशालिनी श्री सहित, द्वारावति विधवा भई ॥

जल में सर्वथा ही डूबा हुआ पुरुष दूसरे को जल-क्रीड़ा का सुख नहीं अनुभव करा सकता और जिसने जल का स्पर्श भी नहीं किया है, वह भी केवल वाणी से वहाँ का सुख दूसरे

---

* उद्धवजी विदुरजी से कह रहे हैं—"गगन चूड़ामणि भगवन् भुवन भास्कर रूप श्रीकृष्ण के अस्त हो जाने पर; श्रीहीन और काल-

को अनुभव नहीं करा सकता। उस दिव्य शीतल सुख का अनुभव कराने में वही समर्थ हो सकता है, जो डूबना तो जानता है, किन्तु डूब कर उछल भी आता है, कटि तक तो जल में खड़ा रहे और आधा बाहर निकला रहे, जिसमें अपने को भी साधे रहने की सामर्थ्य हो और दूसरे को भी सम्हाले रह सके। जो डूबना ही नहीं जानता, जल के बाहर खड़ा रह कर अनुमान से युक्ति बताता है, वह बावदूक है। उसका ज्ञान शाब्दिक ज्ञान है, वह अनुभव शून्य है, स्वयं जिस सुख का आस्वादन नहीं किया, उसे दूसरे को कैसे करा सकता है?

जो लोग प्रेम में इतने विह्वल हो जाते हैं, कि उन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती, वे अपने भावों द्वारा लोगों पर प्रभाव भले ही डालें, किन्तु उनके द्वारा कोई शारीरिक उपकार, बाह्य साधन नहीं हो सकता। जिन्होंने प्रेम का रास्ता देखा ही नहीं, केवल इधर उधर की पुस्तकें पढ़ सुनकर—'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा' जोड़कर व्यर्थकी बकवाद करते रहते हैं उन्हें कुछ आर्थिक लाभ भले ही हो जाय, किन्तु उनसे किसी का पारमार्थिक उपकार नहीं हो सकता। जो प्रेम जगत् में जाकर भी आधी वृत्ति को लौटा लाये हैं, उन मध्य के लोगों से ही लोकोपकार होता है। वे देखते तो दिव्य लोक की लीलाओं

रूपी भुजंग से ग्रसे जाने पर; अब मैं यदुवंशियों की क्या कुशल कहूँ! विदुरजी! यह संसार बड़ा अभागा है, इस संसार में भी ये यदुवंशी तो नितान्त ही भाग्यहीन निकले, जिन्होंने निरन्तर समीप रहने पर भी भगवान् का यथार्थ रूप नहीं पहिचाना। जैसे समुद्र में रहते समय मछलियों ने चन्द्रमा को भी एक साधारण जीव ही समझा था।"

को हैं, किन्तु उनका वर्णन करते हैं लौकिक भाषा में। उसका मन तो फँसा है वहाँ की छटा में, किन्तु लिखते हैं प्राकृतिक साधनों से। यों उनकी वृत्ति तो ऊँची उठी हुई है, किन्तु उसे लगाते हैं सांसारिक व्यवहारों के साथ। इस प्रकार वे प्राकृतिक और अप्राकृतिक के मध्यस्थ होकर वहाँ से दिव्य सुख को इस मरण शील संसार में—इस अधूरी लौकिक भाषा में—स्थापित करते हैं। उसी का नाम है *'समाधि भाषा'* श्रीमद्भागवत समाधि भाषा में ही लिखी गई है।

उद्धवजी श्रीकृष्ण की स्मृति होते ही दिव्य लोक में चले गये। आनन्दरस सिन्धु में डूब गये। श्रीकृष्ण चरणारविन्द मकरंद के मादक मधु का पान करके मदमत्त हो गये। उन्हें बाहरी जगत् का भान न हुआ। पर निरन्तर के नाम संकीर्तन श्रवण से उनकी वृत्ति कुछ-कुछ नीचे उतरी। प्रेम का नशा कुछ कम हुआ। सर्वथा उतर गया हो, सो बात नहीं और बिलकुल ऐसे छके भी नहीं थे, कि कुछ कह ही न सकें। मध्य अवस्था में आ गये। विदुरजी ने जिन-जिनके नाम लेकर कुशल पूछी थी उनकी ओर तो ध्यान ही नहीं दिया। जैसे शिष्टाचार से विदुरजी ने पूछा था, वैसे ही वे भी उन बातों को अनसुनी कर गये। उनके कानों में वही अन्तिम शब्द गूँज रहा था 'वार्ता सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः' उन तीर्थकीर्ति भगवान् वासुदेव की बातें सुनाओ। वे उसी बात को सुनाने का उपक्रम बाँधने लगे। जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रकान्त मणि पिघलने लगती है, जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर समुद्र के हृदय में हिलोरें उठने लगती हैं, जैसे अत्यंत रूपवान् पुरुष को देखकर असती कामिनियों का चित्त द्रवित होने लगता है, जैसे मनोनुकूल सुगंधित मधुर पदार्थों को देखकर जिह्वा लोलुप पुरुष की जीभ

में से पानी निकलने लगता है, जैसे कमनीय कामिनी के कटाक्षों से कामी पुरुषों के चित्त में अधीरता होने लगती है, जैसे अत्यन्त प्रिय शिशु को देखकर माताओं के स्तनों से स्वतः ही दूध बहने लगता है, उसी प्रकार योग्य अधिकारी श्रोता को देखकर श्रीकृष्ण-कथा के रसिक भावुक वक्ता की वाक् धारा अपने आप बहने लगती है। इसीलिये श्रीकृष्ण-कथा के पूछने पर उद्धवजी ने कहना आरम्भ किया। कथा के दो भाग होते हैं, एक तो कथा भाग, एक पूर्व-रंग या उपक्रम। कथा कहने के लिये मुखबन्ध बाँधने को ही उपक्रम या प्रस्तावना कहते हैं। विदुरजी ने भी अपने प्रश्न की प्रस्तवना कुशल प्रश्न से ही की। उनका मुख्य प्रश्न तो था—भगवान् की बात सुनाइये। इसी की भूमिका के लिये—बात चलाने के निमित्त, उन्होंने इतने लोगों की कुशल पूछने के अनन्तर अपना असली अभिप्राय प्रकट किया। उद्धवजी तो परम भागवत ठहरे। वे समझ गये—विदुरजी का अभिप्राय श्रीकृष्ण-कथा से है कुशल प्रश्न तो एक प्रासंगिक शिष्टाचार है। यही सब समझ कर श्रीकृष्ण-कथा का उपक्रम बाँधते हुए बोले।

अत्यन्त निराश के स्वर में उद्धवजी कहने लगे—"विदुरजी! क्या आप कुशल पूछ रहे हैं? किसकी कुशल पूछते हैं? यदु-कुल की या संसार की? कुशल तो प्रकाश में होती है। अन्धकार में तो चारों ओर भय ही भय है। सूर्य के अस्त हो जाने पर तम से आवृत्त साँय-साँय करती हुई भयंकर निशा आ जाती है। अन्धकार में कुशल कहाँ? भुवन भास्कर रूपी भगवान् के प्रस्थान कर जाने पर अब कैसी कुशल? अब तो सर्वत्र अकुशल ही अकुशल है। जो द्वारावती परम पुण्य-वती और स्वर्गादि लोकों को भी तिरस्कृत करने वाली कही

जाती थी, आज अपने स्वामी द्वारकाधीश के बिना वह श्रीहीन विधवा हो गई। उसकी माँग का सिंदूर पुँछ गया, उसका अतुल वैभव नष्ट हो गया, उसकी अलकावली कट गई, चूड़ी बिछुओं से हीन वह शोभा और शृङ्गार से रहित अप्रिय दर्शन बन गई।

यदि आप सम्पूर्ण संसार की कुशल पूछते हैं, तो यह संसार अभागा है। यथार्थ में यह दुःख शोक का आलय है। जैसा पहिले था, वैसा ही हो गया। स्वभाव को कौन मेंट सकता है। कुत्ते की पूँछ को कोई अपने प्रभाव से सीधी करता रहेगा, जहाँ वह प्रभावशाली हटा कि फिर टेढ़ी की टेढ़ी। दुःख, शोक, आपत्ति, विपत्ति, चिन्ता, ग्लानि, भय, आधि-व्याधि से भरे इस संसार में शान्ति कहाँ, सुख कहाँ? इस मेद से बनी अशुद्ध मेदिनी में पवित्रता कहाँ, इसकी उत्पत्ति ही अशुद्ध मेद से हुई है। सो, वह मेद भी किसी भले आदमी का नहीं। क्रूरकर्मा मधु कैटभ नामक राक्षसों की चर्बी से इसकी रचना हुई है। इसमें पावनता कहाँ रह सकती है? हाँ, जब इस पर परम पावन प्रभु के पुनीत पाद-पद्म पड़ते हैं, तब यह पवित्र से भी पवित्र बन जाती है जहाँ उन जगद्-वन्द्य चरण कमलों का धोवन बहने लगता है, वही स्थान सब को पवित्र बनाने वाला तीर्थ बन जाता है। इस शोक पूर्ण संसार को प्रभु ही अपनी पद-रज से पूत बनाते हैं। वे स्वयं अकेले ही नहीं पधारते। अपने परिकर, परिवार, धाम और आयुधों सहित अवतरित होते हैं। यह पृथ्वी इसीलिए बड़भागिनी मानी जाती है, कि इस पर प्राकृत गुणों से रहित श्रीवृन्दावन धाम है। जब भगवान् अपनी प्रकट लीला में पधारते हैं, तब पृथ्वी श्रीसम्पन्न हो जाती है, वह परम भाग्यशालिनी बन जाती है। जब वे अपनी

लीला को संवरण कर लेते हैं, तब यह सम्पूर्ण लोक अदि दर्शन हो जाता है। भगवान् जिस जीव की ओर कृपा कर देख दें या जीव ही उन्हें स्नेह भरी दृष्टि से देख ले, तब वह कृतार्थ हो जाता है। विदुरजी! औरों की बात छोड़िये, जिस यदुवंश में देवकीनन्दन अवतीर्ण हुए उस कुलवालों ने—सद साथ रहने पर भी—उन्हें नहीं पहिचाना। ये यादवगण कितने अभागे हैं, कितने मन्द बुद्धि हैं, कि समीप रहने पर भी उनके स्वरूप से वञ्चित रहे?

इस पर विदुरजी ने पूछा—"उद्धवजी! आप यह कैसे बात कह रहे हैं? भगवान् को वैसे कोई न भी जाने, किन्तु ज वे पृथ्वी का भार उतारने के लिए स्वयं साक्षात् सगुण रूप अवतीर्ण हुए, तब उनके प्रभाव को देख कर तो सब समझ गये होंगे, उनके लोकोत्तर कार्यों से तो उनकी भगवत्ता प्रक हो ही गई होगी?"

यह सुनकर उद्धवजी बोले—"विदुरजी! यही त भगवान् का माया है। इतना प्रभाव, इतना ऐश्वर्य प्रकट कर पर भी यादवों ने समझा, यह भी हमारी ही भाँति एक यदुवंशी हैं। एक उदर में से उत्पन्न होने पर भी सबके भाग्य अलग-अलग होते हैं, कोई प्रभावशाली होता है कोई प्रभाव हीन, कोई शक्तिशाली होता है कोई निर्बल, कोई प्रकाशवान होता है कोई प्रकाशहीन। ये हमसे कुछ अधिक बलवान् हैं, अधिक शक्तिशाली हैं। बस, इतना ही अन्तर है। जिस प्रकार हिमालय पर उत्पन्न होने वाली लताओं ने पार्वती को भी अपने समान ही अपनी बहिन माना, जैसे पृथ्वी से उत्पन्न दूब ने सीताजी को भी अपनी

ही सहेली समझा। जैसे देह से उत्पन्न जुँओं ने गणेशजी को भी एक बड़ा जुँआ ही माना, जैसे अरण्य के कमल आदि पुष्पों ने स्वामी कार्तिकेय को भी अपनी जाति का ही माना, जैसे समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा को उसमें रहने वाले जल-जन्तुओं ने—अमृतमय न समझ कर—अपने ही सदृश जल-जन्तु माना। वैसे ही यादव भी उन्हें कोई अपना भाई, कोई पिता, कोई पितामह, कोई पितृव्य और कोई पुत्र कह कर पुकारते थे। उनके यथार्थ रूप को किसी ने न समझा।"

इस पर विदुरजी ने पूछा 'उद्धवजी ! क्या यदुवंशी विवेकहीन थे? वे भाव को ग्रहण करने में समर्थ नहीं थे क्या? इतने दिन समीप रहने पर भी वे भगवान् के अतुल भावपूर्ण पराक्रम से अपरिचित ही क्यों रहे ?'

दुखित मन से उद्धवजी बोले—"अब विदुरजी ! इसका क्या उत्तर दूँ ? यही कह कर सन्तोष करना पड़ता है, कि भगवान् उन्हें अपना यथार्थ रूप दिखाना नहीं चाहते थे। उन्होंने अपनी योग-माया का ऐसा पर्दा सबके हृदयों पर डाल दिया था, कि सभी उन्हें एक यशस्वी, पराक्रमी, श्रेष्ठ यादव ही मानते थे। यही समझ कर वे उनका आदर करते थे वैसे वे सब भगवान् के संकेत समझते थे, सभी बड़े बुद्धिमान् थे, सभी श्रद्धा सहित उनकी आज्ञाओं का पालन करते थे, किन्तु भगवत् बुद्धि रखकर नहीं। कैसे भी करें कल्याण तो उनका होगा ही। जान में, अनजान में,

कैसे भी अमृत पीओ, अमर तो हो ही जाओगे, किन्तु ज्ञान में रसास्वादन से वञ्चित रह जाते हैं। इसीलिये भक्त भगवान को नहीं चाह कर प्रेम चाहते हैं। अनन्त पराक्रम अतुल वैभव, अनुपम सौन्दर्य लोकोत्तर दिव्यातिदिव्य गुण, महान् ऐश्वर्य, अद्भुत लावण्य, अभूतपूर्व दया दाक्षिण्य भगवान् के इन सब गुणों को यह अल्पज्ञ जीव कैसे सहन कर सकता है? उन्हें वह इस प्राकृतिक बुद्धि से कैसे समझ सकता है? भगवान् प्रकट हुए हमे उनका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ जिसका होना अल्पज्ञ जीव को सम्भव ही नहीं—तब दर्शन से हम रस का आस्वादन कैसे कर सकते हैं? इसीलिये वे कहते हैं—'प्रभो! हमें प्रेम प्रदान कीजिये। आप में हो, जिससे आपके दिव्यगति-दिव्य रस का शनैः शनैः—स्वाद मिठास के साथ आस्वादन कर सके।' दर्शन तो दैत्य, राक्षसों को भी होते थे। मुक्ति तो भगवान् उन्हें भी प्रदान करते ही किन्तु वे उस रस के आस्वादन से वञ्चित ही रहते थे। धर्मराज के राजसूय यज्ञ में शिशुपाल ने क्रोध में भरकर भगवान को कैसी-कैसी गालियाँ दीं, कितने कितने कुवाच्य शब्दों का उच्चारण किया। श्याम सुन्दर हँसते ही रहे और उसे भी अपनी सायुज्य मुक्ति प्रदान की, किन्तु रस से तो वह वञ्चित ही रहा।"

विदुरजी ने कहा—"उद्धवजी! आप रस-रस बार-बार कह रहे हैं, रस क्या? रस तो वे परमब्रह्म परमात्मा श्री

श्री श्यामसुन्दर ही हैं। जब वे प्राप्त हो गये, तब फिर और रस की क्या आवश्यकता ? रस तो मिल ही गया। यदि गाली देने से ही मुक्ति मिलती हो, तो हम तो माला झोली फेंक कर गाली ही दिया करें। 'हर्रा लगे न फिटिकिरी, रंग चोखो ही आवे।' वैर भाव से मुक्ति प्राप्त हो जाय, तो प्रेम के पचड़े में पड़ने की आवश्यकता ही क्या है ?

यह सुन कर उद्धवजी मुस्कराये और बोले—"विदुरजी ! आप भी ऐसी बातें कहोगे क्या ? अजी, मुक्ति के लोभ से हम लोग अनुपम रस का परित्याग कर सकते हैं क्या ? जो सौन्दर्य्य माधुर्य्य हमारे हृदय में बस गया है, वहाँ वैर को स्थान दे सकते हैं क्या ? जो माधुरी मूरति हमारे नेत्रों में गड़ गई है, वहाँ भयंकर मूर्ति को स्थान कहाँ ? चक्र को तो हम दूर से ही डंडौत करते हैं। हमारी तो मित्रता मुरली से है। हमें तो मुरलीधर की उस प्यारी-प्यारी धुनि ने अपनी चेरी बना लिया है। जिन्हें भुक्ति-मुक्ति की पिशाचिनी स्पृहा बेचैन बनाये हो, वे भले ही इन बातों में आ जायें, किन्तु जिन्होंने अपना अन्तःकरण आत्मा रूप श्रीहरि ही में लगा दिया है, उन लोगों की बुद्धि इन बातों को सुन कर भ्रम में नहीं पड़ सकती। अहा ! कैसा उनका सौन्दर्य्य था, कैसी उनकी अनुपम छटा थी, क्या संसार में उसकी समानता किसी अन्य से हो सकती है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! इतना कहते-कहते उद्धवजी

भगवान् के सौन्दर्य का अनुभव करते-करते फिर प्रेमार्णव में निमग्न से हो गये।"

छप्पय

हाय ! कहाँ वो परम सुखद श्रीहरि की झाँकी।
मन्दमन्द मुसकान चित्तहर चितवन बाँकी॥
आँखिनि कूँ वा छटा पान को चसको लाग्यो।
भये न जौलौं तृप्त, हमें हरि तौ लौं त्यागो॥
उठवनि चितवनि करपरसि, हँसनि अँक भरि-भरि मिलनि।
चेष्टा ये सब श्याम की, परम मधुर बोलनि चलनि॥

भगवान् का लोकोत्तर सौन्दर्य

(१०९)

यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये
निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः ।
कार्त्स्न्येन चाद्येह गतं विधातु—
रर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

कारे कारे कुटिल केश मलि तेल सम्हारें ।
गोरोचन को तिलक मोर मुकुटादिक धारें ॥
कंकण कुंडल हार करधनी अङ्गद नूपुर ।
शोभित होवे स्वयं पाइ तनु सुन्दर मनहर ॥
निरखहिं निज प्रतिबिम्बकूँ, अपन पपनपो भूलि कें ।
मुख मलूक मनहर स्वयं, चकित होहिं छवि देखि कें ॥

भक्त दो प्रकार के होते हैं। एक तो ज्ञान प्रधान भक्त और दूसरे भावुक-हृदय प्रधान—भक्त। इनके भी फिर अधिकार भेद से, साधन भेद से, असंख्यों भेद हो जाते हैं। ज्ञान प्रधान भक्त

---

* विदुरजी से उद्धवजी कह रहे हैं—"विदुरजी! भगवान् के सौन्दर्य को तो आपने धर्मराज के राजसूय यज्ञ में भली

दृश्य संसार रहस्य को समझ कर भगवान् की अनन्य भाव से उपासना करते हैं। किन्तु भावुक भक्तोंका इस संसार के तत्वों से कोई प्रयोजन नहीं। उनकी दृष्टि में तो एक ही तत्व है। उनकी दृष्टि—काली पुतलियों के कारण—उसी रंग की हो जाती है। वे जहाँ देखते हैं, उस कारे टेढ़े कन्हैया को ही देखते हैं उन्हें न संसार से प्रयोजन, न माया, अविद्या, प्रकृति से काम संसार दुःखमय हो या सुखमय, उनके श्यामसुन्दर तो सदा सुख स्वरूप हैं। वे विशुद्ध अद्वैत को मानते हैं।

एक ऐसे भी भक्त होते हैं, जो वाणी के विनोद के लिये इस दृश्य प्रपंच के विषय में कुछ कहते सुनते हैं। इस कहने सुनने का प्रयोजन यही एक मात्र है, कि इससे अपने इष्ट का स्मरण हो। मालूम पड़ता है, उद्धवजी ऐसे ही भावुक हृदय प्रधान भक्त हैं। एकादश स्कन्ध में किये गये उनके प्रश्नों को सुनकर तो हमें ऐसा लगने लगता है, कि कोई मजा हुआ दार्शनिक समन्वय कराने की जिज्ञासा से समस्त उलझे हुए प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है। विभिन्न से दिखाई देने वाले मतों का एकीकरण कर रहा है, किन्तु जब उन्हें, श्रीकृष्ण-प्रेम में रोते और छटपटाते देखते हैं, जब उन्हें प्रेम के आवेग में विह्वल पाते हैं, व्रजङ्गनाओं को बार-बार प्रणाम करते हुए जब वे भगवान् से व्रज की गुल्मलता बनने की याचना करते

प्रकार देखा ही था। कैसे आश्चर्य की बात है। वहाँ जिसने ही उनके नयनाभिराम रूप को देखा, उसी ने यह दृढ़ता के साथ कह दिया, कि ब्रह्माजी की नूतन सृष्टि रचना सम्बन्धी जितनी भी चतुरता है, वह सब कृष्ण मूर्ति में ही पूरी हो गई। अर्थात् संसार का समस्त सौन्दर्य इसी एक मूर्ति में सन्निहित हो गया।"

हैं, तब तो ऐसा लगता है मानों वे तत्व ज्ञान की बातें उन्होंने लोक संग्रह के ही निमित्त कह डाली हों।

विदुरजी उतने भावुक भक्त नहीं हैं। वे सरस ज्ञानी भक्त है, वे समझते हैं—हमारे श्यामसुन्दर न कभी आते हैं, न जाते हैं। उनका आविर्भाव, तिरोभाव एक विनोद मात्र है। तभी तो उद्धवजी के मुख से भगवान् के स्वधाम पधारने की बात सुनकर, यादवों और कौरवों के विनाश का समाचार सुनकर शोक सूचक एक शब्द भी उन्होंने नहीं कहा, कि हाय! बड़ा बुरा हुआ। उद्धवजी तो विरह में कितने विह्वल थे, भगवान् के स्वधाम पधारने से कितने व्याकुल और बेसुध हो रहे थे। विदुरजी के मन में भी स्वभावानुसार कुछ शोक सा जब उत्पन्न होने लगा, तो उन्होंने उसे अपने विवेक से शान्त कर लिया। वे तो श्रीकृष्ण गुण कीर्तन, श्रवण के लोलुप थे। वे समझते थे, जहाँ श्रीकृष्ण कथा है, वहाँ मेरे श्यामसुन्दर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं। जहाँ विषय वार्ता होने लगती है, वहाँ से भाग जाते हैं। इसीलिये उनका प्रश्न था—'तीर्थकीर्ति भगवन् वासुदेव की बातें बताओ। उन्हींकी लीला सुनाओ। उन्हीं के सौन्दर्य माधुर्य का वर्णन करो।' उद्धवजी भी इसी अमल के अमली थे। एक ही अमल के दो अमली जब मिल जाते हैं, तो उस अमल में अद्भुत आनन्द आता है। प्रायः देखा गया है कि मादक द्रव्यों के अमली अकेले अमल नहीं करते। भङ्ग घोटेंगे तो एक-एक चुल्लू सबको देंगे। जो व्यसनी न होगा, उससे भी कहेंगे—'देखिये तो सही, इसका लटका खाली मिरच बादाम है, विजया की पत्तियाँ तो नाममात्र को हैं।' अमल का आनन्द मिलकर ही पीने में आता है यदि एक अमल के दो अमली अपने मन के—एक प्राण दो तन मिल जायँ, तब तो स्वर्ग—तीन चार अँगुल ही ऊपर रह जाता है।

जैसे पागल विदुरजी थे, वैसे ही पागल उन्हें उद्धवजी मिल गये। जब दो पागल मिल जायँ, तब तो संसार भूल ही जाता है दोनों अपनी धुन में मस्त हो जाते हैं। विदुरजी को सुनने में रस आता था, उद्धवजी को कहने में। अतः विदुरजी तो चुप चाप एकाग्र मन से उद्धवजी के मुख को देख रहे थे और उद्धवजी आनन्द में मग्न हुए भगवान् के सौन्दर्य माधुर्य का क़थन कर रहे थे।

उद्धवजी बोले—"विदुरजी! भगवान् के दर्शन एक जन्म के के पुण्यों से नहीं होते। सहस्रों जन्मों तक जो तप, यज्ञ, समाधि के द्वारा उन परमाराध्य प्रभु की आराधना करते हैं, उन महाभाग्यशाली पुरुषों को ही भगवान् के देवदुर्लभ दर्शन का सुयोग प्राप्त होता है। एक तो उनका दर्शन ही दुर्लभ है। तिस पर निरन्तर उनकी रूप माधुरी का अनिमेष भाव से पान करते रहना— यह तो उन्हीं की कृपा से संभव हो सकता है। नेत्रों का साफल्य श्यामसुन्दर की त्रिभुवन कमनीय मूर्ति के दर्शनों में ही है। अल्पपुण्य वाले, दर्शन के परम पिपासु लोगों को कुछ समय तक अपना भुवन-मोहन मनोहर रूप दिखाकर, उनकी आँखों को बिना तृप्त किये ही, उन्हें पिपासित ही छोड़कर भगवान् अब इस अवनि से अन्तर्हित हो गये, इस धाराधाम को त्याग गये, अपनी मानवीय लीला का संवरण करके स्वधाम-पधार गये। मानों दर्शन पिपासुओं को नेत्र हीन बना गये।

विदुरजी! उन मदन-मोहन ने रूप तो मनुष्यों जैसा बना लिया था, किन्तु क्या वे मनुष्य थे? नहीं-नहीं! विदुरजी! मनुष्य देह में ऐसा सौन्दर्य संभव नहीं। अपनी योग-माया का आश्रय लेकर उन्होंने अपने अंग प्रत्यंग तो प्राकृतिक पुरुषों के से आकार का बना लिया था, जिसके द्वारा वे मानवीय लीला

कर सकें। मनुष्योचित क्रीड़ा करके इन राग, द्वेष, काम, क्रोध में फँसे हुए दुखी लोगों के हृदयों में सुख का संचार कर सकें, नीरस नर जीवन में सरसता का सम्पुट दे सकें, आधि-व्याधि चिन्ता-संताप में संलग्न जीवों को प्रेम का रसास्वादन करा सकें। किन्तु वह रूप इतना सुन्दर बन गया था, कि अन्य संसारी लोगों की बातें तो छोड़ दीजिये, वे स्वयं ही अपने कारे-कारे घुँघराले बालों को सम्हालने के लिये दर्पण में उस शारदीय कमल, पूर्णचन्द्र आदि को भी तुच्छ और तिरस्कृत करने वाले श्रीमुख को जब निहारते, तो स्वयं ही विस्मित हो जाते थे, दर्पण देखते देखते आश्चर्य से कहने लगते—'अरे यह इतना सुन्दर कौन है? यह देव है, दानव है, यक्ष है, गन्धर्व है' अथवा किंपुरुष है, कौन है? ऐसी सुन्दरता तो मैंने कभी देखी नहीं'। विस्मय से हाथ हिल जाता, तब सोचते—अरे, यह तो मेरा ही प्रतिबिंब है। क्या मेरा मुख इतना सुन्दर है? विस्मय में भर कर फिर देखते और मुग्ध हो जाते। जो रूप, रूप के सागर को भी विस्मित बना सके, उसकी उपमा विदुरजी! किस संसारी वस्तु से दें?

विदुरजी! आप महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की शोभा को भूल गये क्या? आप तो वहाँ के मुख्य कार्यकर्ताओं में थे। उस समय देश-देशान्तरों के राजा और राजकुमार एकत्रित हुए थे। आये हुए राजाओं में एक से एक रूपवान्, सुन्दर और सुकुमार राजकुमार थे। वे यज्ञ की उसी प्रकार शोभा बढ़ा रहे थे, जिस प्रकार आकाश की शोभा तारागण बढ़ाते हैं। उन सब में श्रीकृष्णचन्द्र—लांछन रहित चन्द्र के समान—चारों ओर चमक रहे थे। अग्रपूजा का प्रश्न उठते ही सहदेव ने उन भगवान् वासुदेव को ही पूजा का प्रथम अधिकारी बताया।

सभी धर्मात्मा राजाओं ने इसका समर्थन किया। धर्मराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। किसी साधारण मनुष्य की तो पूजा थी ही नहीं, साक्षात् गोलोकविहारी भगवान् नन्दनन्दन की पूजा थी। करने वाले भी साधारण व्यक्ति नहीं थे। आसमुद्रान्त सप्तद्वीपवती इस समस्त वसुन्धरा के एकछत्र सम्राट् धर्मराज यजमान थे। यज्ञ में दीक्षा लेने के कारण हरिन के सींग को लिये हुए दायीं ओर अयोनिजा द्रुपदसुता सम्राज्ञी द्रौपदी विराजमान थीं। भगवान् के ऊपर श्वेत छत्र तन रहा था। वेदज्ञ ब्राह्मणों ने नाना उपचारों से वैदिक मंत्रों द्वारा दिव्यौषधि महौषधि के जलों से विधिवत् अभिषेक कराया था। अश्रु भरे नेत्रों से धर्मराज ने दिव्य पीत रंग में रँगे कौषेय रेशमी वस्त्र उनके नीलमणि के समान चमकते हुए श्रीअंग में धारण कराये। नानारत्न और मणियों से युक्त हार और दिव्याभूषण समर्पित किये थे। उस समय उनकी कैसी छटा थी, कैसी आभा थी? समस्त सभा चित्र लिखित के समान बन गई थी। निरन्तर निहारते रहने पर भी सभी अतृप्त से ही बने रह गये। सब की आँखों में चकाचौंध छा गया। सभी विस्मय और आश्चर्य के साथ कहने लगे—"धन्य, धन्य! ऐसा सौन्दर्य, इतना अनुपम लावण्य! ब्रह्माजी ने अपनी सभी कारीगरी खर्च कर दी। उन्होंने अपनी समस्त चातुरी इसी एक श्रीविग्रह में लगा दी। संसार में इसकी उपमा न किसी रूप से दी जा सकती है, न किसी से समानता की जा सकती है।

विदुरजी! हम तो उस रूप को जितना ही देखते, उतनी ही हमारी तृष्णा बढ़ती थी। हाय! आज वह रूप हमारी आँखों से ओझल हो गया। आज हमें वह अनुरूप रूप लावण्य युक्त श्रीविग्रह दिखाई नहीं देता, हमारी आँखें तो उसी रूप को

देखने की आदी हो गई थीं। अब उन्हें ये सभी संसारी रूप फीके-फीके दिखाई देते हैं। आँखें अब और किसी को देखना ही नहीं चाहतीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार कहकर उद्धवजी उस रूप के ध्यान में मग्न हो गये। विदुरजी भी बिना बोले चाले चुप-चाप उद्धवजी के मुख-निसृत रस का एकाग्रचित्त से पान कर रहे थे।"

छप्पय

देश-देश के भूप यज्ञवर राजसूय महँ।
निरखि मुग्ध सब भये नन्दनन्दन की छवि तहँ॥
घन-चातक, जल-मीन, शलभ-पावक उपमा सब।
फीकी सबरी भई एकटक लखें रूप जब॥
रचना विषयक चातुरी, विधि की सब पूरी भई।
सब थल की सुषमा छटा, कृष्णमूर्ति महँ धरि दई॥

भगवान् का लोकोत्तर माधुर्य

(११०)

यस्यानुरागप्लुतहासरास—
लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त—
धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २ अ० १४, श्लोक)

छप्पय

जिनकी मधुमय हँसनि हृदय महँ मिश्री घोरति।
जिहिँ चितवहिँ चितचोर भई पागली है डोलति॥
मुरली अधरनि धरें बजावहिँ स्वरतें गावहिँ।
छोड़ि-छोड़ि गृह काज-विवश व्रज बाला धावहिँ॥
लखि मोहन की माधुरी, चुप्प होहिँ नहिँ कछु कहत।
आँखि मींचि थिर चित्त करि, आभीरिनि जोगिनि बनत॥

मधुरता को मन स्वतः ही पकड़ लेता है। स्वादिष्ट पदार्थ को जिह्वा अधीरता के साथ चखती है। प्रिय पदार्थ को निहार कर हृदय वरवश उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। भगवान् के

* उद्धवजी कह रहे हैं—"विदुरजी! जिनकी प्रेमपूर्ण हँसी, विचित्र विनोद और लीलामय चितवन से सम्मानित हुई व्रजाङ्गनाएँ

ऐश्वर्य्य को निहार कर कोई उनसे डरते हैं, कोई दुष्टों के दमन से प्रसन्न होते हैं, कोई डाह करते हैं कोई क्रोध, किन्तु उनके माधुर्य्य का जादू तो सभी पर एक सा होता है। खर दूषण शत्रुभाव से मारने के लिये दूर्वादलश्याम रघुकुलतिलक श्री अवधमंडन श्रीकौशलकिशोर के समीप आये थे। जब उन्होंने इनके अनुपम सौन्दर्य्य लोकोत्तर माधुर्य्य का अवलोकन किया, तो उनके मुख से सहसा ये शब्द अपने आप ही निकल पड़े—'यद्यपि इन्होंने हमारी भगिनी को कुरूप किया है, किन्तु ये अनूप माधुर्य्ययुक्त भूप वध करने के योग्य नहीं हैं।' जादू उसी का नाम है जो शत्रु के सिर पर चढ़ कर बोले। इस श्रीकृष्ण रूप में तो माधुर्य्य की पराकाष्ठा ही हो गई। जिसने भी एक बार उन्हें देख लिया, मानों वह बिना मूल्य के क्रीत दास हो गया। यह तो सर्व साधारण की बात है। किन्तु जो स्नेहमयी हैं, प्रेममयी हैं, सहृदया हैं, श्रीकृष्ण में ही जिन्होंने अपने मन और प्राणों को न्यौछावर कर दिया है उन व्रजाङ्गनाओं के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं। उद्धवजी को सौन्दर्य्य की चर्चा करते हुए उन व्रजबालाओं के अनुपम प्रेम का स्मरण हो आया वे उसी आवेश में कहने लगे।

उद्धवजी बोले—"विदुरजी! उन मूर्तिमान् माधुर्य्य रूप श्रीहरि के लोकोत्तर लावण्य के सम्बन्ध में कैसे कहूँ, कैसे बताऊँ? यह कहने का विषय नहीं, बताने की बात नहीं।

अपने नेत्रों को और चित्त की वृत्ति को उन्हीं में लगाये रहती थीं, इसी कारण वे अपने घर के काम-काजों को अधूरा ही छोड़ कर, उन्हीं का ध्यान करते करते तन्मय हो जाती थीं (उनके माधुर्य्य का क्या वर्णन करें?)।"

वाणी से परे की गाथा है और आप कहते हैं श्रीकृष्ण-वार्ता कहो। भगवान् ने अनेकों अवतार धारण किये और उनमें अनेकों लोकोत्तर चमत्कार भी दिखाये। अपना ऐश्वर्य भी प्रकट किया; किन्तु इस अवतार में तो कुछ विलक्षण ही स्वारस्य प्रदर्शित किया। मानो मूर्तिमान् रस ने ही विग्रह बना लिया हो। जिस समय अपने छोटे-छोटे मोतियों के सदृश शुभ्र स्वच्छ दाड़िम के दानों को भी लज्जित करने वाले दर्शनों की प्रभा से दिशाओं को प्रकाशित करते हुए हँस जाते, उस समय प्रेमवती महाभागवती उन वृन्दावन-वासिनी वनिताओं के हृदय में एक प्रकार की विकलता छा जाती। जिस समय वे अपने कोमल करों से उनके श्रीअंगों को स्पर्श करते हुए, कमनीय कटाक्षों से व्यथित करते हुए, उनसे बातें करते, विनोद करते, कुछ हास-परिहास की कथायें कहते, उस समय वे धन्य हो जातीं। संसार में अपने को सर्व श्रेष्ठ सौभाग्यवती समझतीं। कुछ भी काम क्यों न कर रही हों, जहाँ श्रीकृष्ण की दृष्टि पड़ी वे चित्र लिखी मूर्ति के समान, पुत्तलिका के समा निश्चेष्ट, बन जातीं।

जिस समय विदुरजी! मैं श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर उन महाभाग्यवती वृन्दावनवासिनी विरहिणियों की शरण में गया, तब मैंने वहाँ उनका अनुराग प्रत्यक्ष देखा। भगवान् के प्रति उनका कितना स्नेह था, कितनी आसक्ति थी, कितनी अनुरक्ति थी, उसे देखकर मैं तो चकित रह गया। गोपों ने और गोपाङ्गनाओं ने प्रेम की जो-जो बातें बताईं, पुरानी जितनी भी कहानियाँ सुनाईं, उन सबको सुनकर मैं निहाल हो गया, धन्य बन गया। गया तो था एक दिन के लिये, किन्तु उस रस सागर में ऐसा डूबा, कि महीनों में वहाँ रहा आया और ये ही सब

बातें सुनता रहा। भगवान के सौन्दर्य-माधुर्य्य की छटा व्रज में ऐसी व्याप्त थी कि सजीव निर्जिव बन जाते और निर्जीव सजीव हो जाते। बहुत सी गोवर्धन की शिलायें मैंने पिघली हुई देखीं। उन में अब तक श्रीकृष्ण के, गोप-गोपी और गौओं के चरण चिन्ह ज्यों के त्यों बने हुए हैं। वृक्षों के रोमांच हो जाते वे पुरुषों की भाँति प्रेमाश्रु बहाने लगते। उनकी वंशी की ध्वनि को सुनकर प्रकृति स्तब्ध हो जाती। उनके रूप को देख कर व्रजङ्गनायें भूली सी, भटकी सी, थकी सी, जकी सी, प्रेम में छकी सी रह जातीं।

व्रज में घर-घर में अपनी बरोसी या चूल्हे में सभी व्रजाङ्गनायें अग्नि को सुरक्षित रखती हैं। यदि किसी की अग्नि बुझ जाती है, तो दूसरे के घर से मांग लाती हैं। शाम को एक के घर में दीपक जल जाता है, तो उसी से आ-आकर सब अपना दीपक जोर ले जाती हैं। व्रजराज के घर सब से पहिले दीपक जुरता, इसलिये सभी व्रजबालायें उनके ही यहां आ-आकर अपना-अपना दीपक जोड़ ले जातीं। एक पंथ दो काज हो जाते, दीपक भी जुड़ जाता और व्रजकुल दीप श्रीश्याम-सुन्दर के दर्शन भी हो जाते। इसी लिये शाम को उनके घर झुंड की झुंड गोपियाँ आतीं। कोई प्रेम की पगली नई व्याहता आई थी। उसने पहिले ही पहिले उस अनुपम माधुरी का रस चाखा था। उस दिन दीप के सामने ही श्यामसुन्दर माँ से कुछ झगड़ा कर रहे थे। कैसी छटा थी उनकी ? प्रेम कोप में

कितना कामनीय हो गया था, उनका कमल मुख। नई बहू दीपक जोड़ते-जोड़ते उसी माधुरी में निमग्न हो गई। उसके नेत्रों के पलक गिरते नहीं थे। अनिमेष भाव से वह श्यामसुन्दर की ओर निहार रही थी, उस सौन्दर्य्य-सुधा में वह इतनी तन्मय हो गई, कि दीप को जोड़ने में अपने आप को भी भूल गई, दीपक के साथ ही उँगलियाँ भी जलने लगीं और उसे कुछ सुधि ही नहीं। जब उगलियाँ जलते जलते अग्नि हाथ तक पहुँची, तब यशोदा मैया की दृष्टि पड़ी। शीघ्रता से वे दौड़ कर गईं और उसे खींचकर बाहर लाईं। अग्नि बुझाई और दुखी होकर बोलीं—'हाय! सुवेमन! यह तैंने क्या कर लिया? क्यों जला लिया? दीपक कहीं ऐसे जोड़ा जाता है? तू भङ्ग पीकर तो नहीं आई? अरे, तेरा हाथ जला और पता भी नहीं चला?"

अब जब दृष्टि श्यामसुन्दर के मुखारविन्द से हटी उसे चेत हुआ। अब कुछ वाह्य जगत का भान हुआ। वो लज्जित हुई और उसके मुख से अवश में ही निकल पड़ा 'हा! श्यामसुन्दर, हा! मदन मोहन!'

दूसरी कोई सखी जो इस रोग में पहिले से ही ग्रस्त हो चुकी थी, सब बात समझ गई और प्रेम के रोप में बोली—'महरि! तुमने यह बेटा क्या जना एक जादू की पीटारी जनी। न जाने इसके मुख में कौन सा मसाला पोत दिया है जो भी इसे देखते हैं, उन्हीं की यह दशा हो जाती है।'

मैया ने कहा—'हाय, वहू! मेरे बच्चे को नजर मत लगा देना, कैसा भोला-भाला बच्चा है ?'

गोपी ने कहा—दादीजी! हम तुम्हारे बच्चे को क्या नजर लगावेंगी, तुम्हारा बच्चा ही सबको नजर लगा देता है! उसकी नजर का ही तो यह जादू है कि देखो, बेचारी का हाथ जल गया।'

इतने में ही श्यामसुन्दर भी अकवकाते हुए आ गये और बोले—'अरे, क्या हुआ ? क्या हुआ ? देखूँ, कहाँ जली है ?' यह कह कर उन्होंने अपने अमृतमय श्रीकर से उस महाभाग्यवती वधू का हाथ पकड़ा। उनका स्पर्श पाते ही वह ज्यों का त्यों सुन्दर, निरामय वन गया। आप तो वार-वार उलट-पलट कर उसे देखते हैं और अपने आप ही कहते हैं—'कहीं तो नहीं जला। तनिक सा लाल पड़ गया है, कुल लपट सी लग गई है। अम्मा! नेंक सो मक्खन तो दे दे। ला, मक्खन लगाने से सव ठीक हो जायगो।'

दूसरी सखी ने कहा—'श्यामसुन्दर! तुम्हारे श्रीहस्त में जो स्निग्धता है, वह मक्खन में कहाँ से आवेगी ? तुम्हारा स्पर्श ही करोड़ों ओपधियों की ओपधि है। हे नन्दनन्दन! तुम्हारी दृष्टि ही मधुमय, अमृतमय है। उस दृष्टि के पड़ते ही वड़वानल भी शान्त हो सकता है।'

सो, विदुरजी! जिस माधुर्य को देख कर व्रजांगनायें जलते हुए अंगों का भी ध्यान नहीं करती थीं, जिनके अव-

लोकन से सजीव शरीर भी निर्जीव सा बन जाता था, आज वे ही हमें विरह सागर में निमग्न करके स्वधाम को पधार गये।"

छप्पय

केश पाश ई पाशा पास आवें फँसि जावें।
भौंह कमान समान नाइ लखि डोरि चढ़ावें॥
चितवन तिरछी तीर लगे घायल करि जावें।
नहिं जीवें नहिं मरें अधमरी ह्वै बिललावें॥
तब गोदी महँ सिर धरयो, भक्त मुक्त भोगी विदुर।
अजी, अबतलक जाँघ में, चिह्न परम शुभ है मधुर॥

अजन्मा का जन्म

(१११)

स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपै—
रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो—
ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाग्निः ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

विदुर ! अजन्मा होहि जन्म लीयो मनमोहन ।
करुणावश बनि तनय करहिं गैयनि को दोहन ॥
मथुरा महँ ले जन्म भागि गोकुल महँ आये ।
चोरी के अपराध दाम तें श्याम बँधाये ॥
अज अविनाशी गुण रहित, वेद जाहि अच्युत कहहिं ।
डर डरपै जातें सतत, सो डरि के व्रज महँ रहहिं ॥

जन्म होता है कर्मों से । शुभ कर्म करोगे तो देवता आदि पुण्य योनियों में जन्म लेना पड़ेगा, अशुभ कार्यों के फल स्वरूप पशु-पक्षी तथा नारकीय पाप योनियों में दुःख भोगना

---

* शान्त स्वरूप ऋषि मुनि तथा घोर रूप दानवादि दोनों ही उन्हीं के रूप हैं, फिर जब दानवादि दुष्टों ने साधुस्वभाववन्तों

पड़ेगा और शुभ-अशुभ मिश्रित कर्मों से मनुष्य आदि योनियाँ मिलेंगी। कर्मों का क्षय, बिना भोग के नहीं होता और भोग बिना देह के नहीं हो सकता। इसलिये योनियों की सृष्टि शुभा-शुभ कर्मों के भोग के ही निमित्त है। भगवान् तो कर्म बन्धनों से परे हैं, फिर उनका जन्म क्यों होता है? वे अवतार क्यों धारण करते हैं, अजन्मा का जन्म कैसा? अच्युत का अवतरण किस कारण से हुआ? पानी में आग कैसे लग गई? ये कुछ विपरीत सीं बातें दिखाई देती हैं। इसीलिये कुछ लोग तो यही मान बैठे हैं, कि भगवान् का अवतार होता ही नहीं। भगवान् तो घट-घट व्यापी हैं, वांछा-कल्पतरु हैं, जिनकी जैसी भावना होती है, उन्हें वे वैसा ही फल देते हैं। यदि कोई उन्हें निर्गुण कह कर भजे, तो उसके लिये वे निर्गुण बन जाते हैं। सगुण कह कर आराधना करे, तो मनोहर रूप धारण कर लेते हैं। शून्य कह कर उनका निराकरण करे, तो उसके लिए शून्य हो जाते हैं। कर्म वाले को कर्म बन कर फल देते हैं; किन्तु हम तो मधुरता के उपासक हैं, हम तो उन्हें अपना सा देखना चाहते हैं। हमने जन्म लिया है, अतः हम अपने श्यामसुन्दर का भी जन्म देखना चाहते हैं। हम अपनी वर्ष गांठ मानते हैं, अतः हम भगवान् का भी जन्मोत्सव धूमधाम से मनाना चाहते हैं। जो हम करते हैं, जिससे हमें सुख होता है, वही सम्बन्ध हम श्यामसुन्दर से बनाने को उत्सुक रहते हैं। यदि वे सर्वज्ञ हैं, सर्व समर्थ है, तो कर्म-बन्धन न रहने पर भी केवल हमारी इच्छा को पूर्ण करने के लिये

को पीड़ा पहुँचाई, तब करुणावश आप अजन्मा होकर भी अपने महान् अग्रज बलदेवजी के सहित उसी प्रकार प्रकट हुए जिस प्रकार व्यापक अग्नि काष्ठादि में प्रकट हो जाती है।

उन्हें अजन्मा होकर भी जन्म लेना पड़ेगा। अच्युत होकर भी अवनि पर अवतरित होना पड़ेगा। इसलिये भगवान् अवतरित होते हैं। यह ठीक है, कि जेल में अपराधी ही जाते हैं। कारावास-दन्ड भोगने का ही तो स्थल है, किन्तु कभी-कभी विनोदी राजा भी करुणावश या कौतुकवश वेष बदल कर निरपराध भी जेल में जाकर जेलियों का सा वेष बनाकर, उन्हीं के सदृश काम करने लगते हैं। चक्की पीसते हैं, बाध बटते हैं। जेलर सब समझता है, मन ही मन उससे डरता है, किन्तु कुछ बोलता नहीं। उनसे काम करने को कहता नहीं, वे हँस कर काम करते हैं। उनके रहने से विपण्ण बने जेली भी सुखी हो जाते हैं। वे जिसे चाहें मुक्त कर सकते हैं, जिसकी चाहे सजा घटा सकते हैं। उनका वह रूप दंड स्वरूप नहीं कौतुकवश है। यही सब सोच कर उद्धवजी बड़े आश्चर्य के साथ कह रहे हैं—"विदुरजी! देखिये, भगवान् को अवतार की क्या आवश्यकता है? धर्मात्माओं में धर्म का बल वे ही देते हैं। दानवों में पराक्रम और साहस उनसे ही मिलता है। यदि वे चाहें तो दानवों को उत्पन्न ही न करें। धर्मात्मा साधु पुरुषों की ही सदा सृष्टि किया करें, किन्तु वे ऐसा न करके दुष्टों में अत्यधिक बल साहस दे देते हैं। वे साधु पुरुषों को पीड़ा पहुँचाते हैं, फिर आप देवताओं की ओर से लड़ते हैं। कैसी क्रीड़ा है? लड़ते हैं और सदा अपराजित होने पर भी कभी-कभी स्वयं उनसे पराजित भी हो जाते हैं। मधु कैटभ नामक दो असुर सृष्टि के आदि में सहसा उनके अंग से उत्पन्न हो गये। क्यों हो गये जी? क्योंकि उन्हें उत्पन्न होना था आँखों में जम चू क्यों हो जाते हैं? शरीर में, बालों में जूंए क्यों पड़ जाते हैं?

उन्हें भी भगवान् के डॉगर ही कहना चाहिये। उत्पन्न होते ही वे भगवान् की ओर लड़ने को दौड़े। ये तो योग निद्रा में शयन ही कर रहे थे। फिर भी उनसे लड़े, किन्तु हाय रे! सर्वसमर्थ उन दैत्यों को जीत न सके। दैत्य ही सही, हैं तो अपने तनय ही। अब क्या करें? अच्युत भी घबरा गये। इतने में ही उन अहंकारी दैत्यों ने कहा—"विष्णो! हम तुम पर प्रसन्न हैं, हमसे कोई वरदान माँगो?' इसे सुन कर हँसिये नहीं कि दैत्य भी वरदान देने का साहस करते हैं? उन्हीं की कृपा से, साहस सामर्थ्य सब उन्हीं का है। भगवान् भी प्रसन्न हुए और बोले—'भैया, मैं यही वरदान माँगता हूँ, कि तुम मेरे हाथ से मारे जाओ।' दैत्य तो घबड़ा गये, अच्छा फँसे। परन्तु करें क्या? लीलाधारी से कैसे जीत सकते हैं? भगवा ने उन्हें मारडाला। उन्हीं के मेद से यह पृथ्वी बनी। इसीलिये इसका नाम मेदिनी है। जब अच्युत अपराजित होने पर भी दैत्यों से डर जाते हैं, तो यदि वे अजन्मा होकर जन्म ले लें तो विदुरजी! इसमें कौन सी आश्चर्य की बात है?

आप कहते हैं—'हमें श्रीकृष्ण लीला सुनाओ। भगवत् चर्चा होने दो।' क्यों आप भगवत् चरित्र ही पूछते हैं? आपने तो उन्हें अनेकों बार सुना है?

विदुरजी बोले—"उद्धवजी! क्या बतावें? उन चरित्रों में रस ही ऐसा है, की बार-बार सुनने पर भी तृप्ति नहीं होती, जितनी बार सुनते हैं, उतनी ही तृषा बढ़ती जाती है। जैसे तृषा रोग में जितना ही पानी पीओ, उतनी ही प्यास बढ़ती जाती है।"

यह सुन कर उद्धवजी हँसे और बोले—"बस, इसीलिये

तो भगवान् अवनि पर अवतरित होकर नाना योनियों में जन्म धारण करके, भाँति-भाँति की क्रीड़ायें करते हैं, कि भक्तों को सुख मिले। अब आप क्रमशः उनकी लीलाओं की ओर ध्यान दें।

भगवान् अपरिच्छिन्न हैं, देश काल से रहित हैं, फिर भी वे परिच्छिन्न से दिखाई दिये। अट्ठाईसवें कलियुग के अन्त में व्रज-मंडल में प्रकट से प्रतीत हुए। अजन्मा होकर भी भाद्रपद की अष्टमी की आधी रात्रि को उनका जन्म सा हुआ। जन्म हुआ मथुरा में, भाग गये गोकुल। क्यों भागे जी? डर कर भागे कि कहीं मामाजी मार न डालें? भगवान् को भी डर लगता है क्या? वाह, जिसने जन्म लिया उसे डर भी लगेगा। अजन्मा निडर होता है, जन्म लेने वाले को प्रबल से भय होता है। पैदा होते ही वसुदेवजी से बोले—'चुपके-चुपके मुझे गोकुल भेज दो।' वे बोले—'ये जो बड़े-बड़े ताले पड़े हैं सो?' झट आपने अपनी योग माया को पुकारा, वह भी डरी थी। उसने आनन-फानन में चट-पट ताले खोल दिये। पहरेदारों को सुला दिया। अब चोरी-चोरी चले चोर चूड़ामणि पिता के कंधे पर बैठ कर।

विदुरजी! उन श्रीकृष्ण की बातें क्या सुनाऊँ? उनकी सभी लीलायें एक से एक अद्भुत हैं। संसार मे भगोड़े की सब हँसी करते हैं, चोर से सब डरते हैं। पता नहीं उनमें ऐसा कौन सा जादू है, कि ये ही बातें जब उनके सम्बन्ध में आती हैं, तो हृदय को पिघला देती हैं। मूढ़ लोग कह सकते हैं, वे भगवान् थे तो कंस से डरने का क्या काम था? वहीं रहते और उसे मार डालते। अनन्त पराक्रम शाली होकर भी वे कालयवन के डर

से क्यों भागे ? उसे लड़कर मार डालते। अब इनका क्या उत्तर दें ? उन्हें मारना ही होता, तो इसके लिये तो उनका रुद्र रूप ही बहुत है, जो तीसरे नेत्र के ईक्षण मात्र से ही इस चराचर विश्व को भस्म कर डालता है। तब उनको किसी को मारने के लिये अवतार लेने की क्या आवश्यकता थी ? मारने के लिये अवतार नहीं लेते, तारने के लिये लेते हैं। वे मृत्यु न देकर अमृतत्व की प्राप्ति कराते हैं । वे रुलाते नहीं, हँसाते हैं तुम कहोगे कि वे तो स्वयं यशोदा की छड़ी को देखकर रो पड़े, फिर वे दूसरों को कैसे हँसायेंगे ? जो स्वयं आँसू बहाता है, वह दूसरों का सुख कमल कैसे खिला सकता है ? अजी, वे आँसू तो मृषा थे, झूठे थे। वह तो नाटक का एक अभिनय था। जैसे नाटक के पात्र झूठे ही रोते हैं, उन्हें देख कर दर्शकों को आनन्द ही मिलता है, सुख होता है। उस अभिनय की वे प्रशंसा ही करते हैं। इसी प्रकार माता के हृदय को पिघलाने के लिए उन्होंने पलकों को मसल कर, थोड़ा थूक लगा कर. कुछ काजल को कपोलों तक घिसघिसा कर, जैसे तैसे दो चार बूँदें निकाली थीं। उससे माता का नवनीत के समान हृदय द्रवीभूत हो गया। तुरन्त हाथ पकड़ लिया। छड़ी फेंक कर स्नेहप्लावित स्वर से बोली—'अच्छी बात है, मारूँगी तो नहीं, तुझे बाँधूँगी।'

माता ने भी समझा—मुन्नाजी ! तुम सब को बाँधते हो, आज तक तुम्हें कोई बाँधने वाला नहीं मिला। आज सब सिटिल्ली भूल जाओगे। भगवान् तो भक्तवश्य हैं। 'माँ, तुझे बाँधने में सुख मिलता है बाँधकर ही तुझे संतोष होता है—तो ले बाँध ले ! असीम को सीमा में जकड़ दे।' कालयवन को इसी में सुख मिलता था—'अरे कृष्ण की तो हमने बड़ी प्रशंसा सुनी

थी, बड़ा बली है। यह तो भगोड़ा निकाला रण छोड़ कर भाग निकला। यह तो रणछोड़ टीकम है।' इस प्रकार विदुरजी! उनकी लीलायें अद्भुत हैं।"

श्रीशुक महाराज परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! कृष्ण चरित्र तो मैं आगे सुनाऊँगा, यहां प्रसंगानुसार विहंगम दृष्टि डालते हुए मैं इस प्रसंग को पूरा कर रहा हूँ।"

छप्पय

व्यापक प्रकटे वह्नि काष्ठ महँ मंथन करिकैं।
जलतैं हिम है जाय उछारो करपै धरिकैं॥
इक्षु अमल रस जमे मधुर मिश्री है आवे।
माखन पय महँ व्याप्त मथें तें सो विलगावे॥
सुखद मनोहर मधुर रस, घनी भूत नरतनु भयो।
नैननि कूँ ललचाय कें, अन्तर्हित अब है गयो॥

दीन तथा दुष्टों पर दयामय की अपार दया

(११२)

अहो बकी यं स्तनकालकूटं,
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यम्,
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥*
(श्री भा० ३ स्क २ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

जैसी पूजा करे देव तैसो फल देवें।
वैसो वेतन मिलहि भूप को जिहि विधि सेवें॥
किन्तु कृष्ण की बानि सबनि तें परम निराली।
भाव कुभावहु आइ, द्वार तें जाय न खाली॥
बाल घातिनी पूतना, रक्त पान राचसि करहि।
दई दयावश मातु गति, तिहि चितु को भव दुख हरहि॥

रस का स्वाद स्वस्थ चित्त से ठहर-ठहर कर प्रेमी के साथ एकान्त में होता है। जहाँ दूसरों का संकोच हो, भय हो, चिन्ता हो, दो में से एक भी अन्यमनस्क हो, उसका चित्त

---

*उद्धवजी कह रहे हैं—"विदुरजी—जिन श्यामसुन्दर को पापिनी पूतना मारने की इच्छा से आई थी और इसलिये उसने उन्हें विष

किसी दूसरे विषय में अनुरक्त हो, तो रस का विपर्यय हो जाता है। कृष्ण कथा के लम्पट विदुरजी जब चुपचाप एकाग्र चित्त से भगवान् के चरित्रों को सुनते ही जाते थे, तो उद्धवजी भगवान् के दिव्यातिदिव्य गुणों का गान करने लगे। लीला गायन तो गौण है, लीलाओं का तो उदाहरण रूप से वे कहते थे। अब वे भगवान् की दयालुता का वर्णन करते हैं।

उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् के लिये जब कर्म बन्धन हो नहीं तो कर्तव्य कैसा ? अक्रूरजी उन्हें कंस के कहने से मथुरापुरी ले गये थे। वहाँ जाकर उन्होंने यदुवंश के कंटक रूप कंस को नष्ट कर दिया, फिर बन्दी-गृह में पड़े हुए अपने माता-पिता वसुदेव देवकी के समीप गये और दोनों हाथ जोड़ कर विनीत भाव से कहने लगे—'पूज्य-पिताजी ! ममतामयी माताजी ! आप हम पर कृपा करें, हमारे अपराधों की ओर ध्यान न दें। वैसे तो हमने बड़ा अपराध किया है। बाल्य, पौगण्ड, कैशोर और युवा बच्चों की ये चार अवस्थायें माता-पिता के अधीन होती हैं। युवा होकर तो वे स्वतन्त्र हो जाते हैं। फिर वे घर वालों के अधीन न रहकर बाहर से आई हुई के अधीन हो जाते हैं, फिर वे माता-पिता के न होकर बहू के बन जाते हैं। स्वयं पिता पद को सुशोभित करते हैं। जितना सुख बच्चे से बाल्यकाल में (पाँच वर्ष तक) होता है उतना पाँच वर्ष के बाद नहीं होता और जितना पौगंड में (पाँच से दस तक) होता है, उतना किशोर अवस्था (दस से-

---

लगाये स्तन का पान कराया। कैसे आश्चर्य की बात है, कि ऐसी दुष्टिनी को भी जिन्होंने माता के समान गति दी, उन श्रीकृष्ण को छोड़ कर और हम किस दयालु की शरण जायँ।"

पन्द्रह) तक नहीं होता। पन्द्रह वर्ष के पश्चात् तो युवावस्था आ जाती है। माता-पिता को परम सुख देने वाली हमारी बाल्य और पौगंडावस्था तो व्रज में ही व्यतीत हो गई। आपकी कुछ भी सेवा न कर सके। इसमें हमारा कुछ वश नहीं था। हम तो कंस के भय से भयभीत ही बने हुए थे। इसलिये हम स्वयं भी सेवा से वंचित रहे और आपको भी प्रसन्न न कर सके।'

विदुरजी! भगवान् की ये बातें अब जब भी याद आ जाती हैं, तब ही मेरा चित्त भर जाता है। कैसा उनका लोकोत्तर पराक्रम था, जिनके भृकुटी विलास से समस्त भूभार बात की बात में नष्ट हो गये, उनके चरणारविन्द की पावन पराग की गंध का सेवन करने वाला कौन-सा ऐसा त्रैलोक्य में पुरुष होगा, जो उन्हें भूल सकेगा?

वे हमारे स्वामी थे, सेव्य थे, आराध्यदेव थे। हम उनके नित्यकिंकर, शरणागत, भक्त तथा दास थे। प्रायः ऐसा होता है, कि स्वामी उन्हीं सेवकों पर कृपा रखते हैं जो उनमें अनुराग रखते हों, किन्तु वे तो अपने समीप आने वाले विरागी, रागी, द्वेषी, अभिमानी सभी पर कृपा करते हैं। आप से क्या कहें—धर्मराज के राजसूय यज्ञ में क्या आपने नहीं देखा था कि चेदिराज शिशुपाल भरी सभा में खड़ा होकर भगवान् को कैसी-कैसी गालियाँ दे रहा था, कैसी-कैसी कड़ी बातें सुना रहा था। भगवान् ने उसके बदले में भी वही मुक्ति उसे प्रदान की,-जिसे योगीगण निरन्तर अनेकों जन्मों तक योगाभ्यास करके प्राप्त करते हैं। आप ही सोचें—ऐसे कृपालु स्वामी, ऐसे शरणागत-वत्सल प्रभु के वियोग को हम कैसे सहन कर सकते हैं?

महाभारत के युद्ध में अर्जुन के सारथी बने थे। आप अपने कटाक्षों द्वारा जिसे एक बार देख लेते, जो आपके देव दुर्लभ-दर्शन को करते-करते अर्जुन के बाणों विद्ध होकर प्राणों का परित्याग करते, उनको भी परमधाम की प्राप्ति हो जाती थी। किसी भाव से जो उनके सम्मुख हो गया वह संसार सागर से पार हो गया।

भगवान् अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त छोटे-से-छोटे काम करने में भी अपना गौरव समझते थे। उनके ऐश्वर्य की किसी भी ऐश्वर्य से तुलना नहीं की जा सकती। उनके प्रबल पराक्रम की किसी भी तुला से नाप-जोख नहीं हो सकती। वे अपनी परमानन्द स्वरूप स्वतः सिद्ध त्रिगुणातीत सात्विकी सम्पत्ति से सम्पन्न होने के कारण पूर्ण काम थे। समस्त ब्रह्मादि देव, इन्द्रादि लोकपाल मनु आदि प्रजापति तथा बड़े-बड़े शूरवीर नरपतिगण श्रद्धा भक्ति से, नाना प्रकार की पूजा सामग्रियों द्वारा उनकी श्रद्धाभक्ति के सहित पूजा करते और अपने दिव्य मुकुटों की मणियों के द्वारा उनके अरुण चरणों को सदा प्रकाशित करते रहते थे। उनको भी जब हम महाराज उग्रसेन के सम्मुख हाथ जोड़े खड़े हुए देखते तब हमारी बुद्धि चक्कर खा जाती। हम सोचते—भगवान् यह कैसी लीला कर रहे हैं? कैसा नर-नाट्य दिखा रहे हैं? भक्तों के वश होकर वे क्या नहीं कर सकते इसका प्रत्यक्ष आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। महाराज उग्रसेन उच्च सिंहासन पर बैठे रहते थे और आप भृत्य की भाँति अन्य सभी सेवकों के समान शिष्टाचार से निवेदन करते—'देव हमारी यह प्रार्थना सुनिये। महाराज, इस बात पर विचार कीजिये।' इस प्रकार जब वे कहते, तो हम तो मारे लज्जा के डूब जाते। लज्जा

हमें इस बात पर नहीं होती थी कि हम दास के भी दास हैं। किन्तु हम सोचते यह थे, कि हमारे स्वामी जिस प्रकार के सेवा-भाव का आदर्श उपस्थित कर रहे हैं, हममें उसका शतांश भी नहीं है, हम तो वैसे ही नाम मात्र के सेवक हैं।

विदुरजी! आप कह सकते हैं, कि शिशुपाल तो उनका सम्बन्धी था, बूआ का बेटा था। अपनी बूआ से उसकी रक्षा करने का—सौ अपराध क्षमा करने का—वचन दिया था। उग्रसेन उनके नाना ही ठहरे। सम्बन्ध में बड़े थे, गुरु थे, इन सब पर कृपा की, तो कौनसा प्रशंसा का कार्य किया? अंधा भी रेवड़ी बाँटता है, तो फिर-फिर के अपने घर वालों को ही देता है। अतः इन सब के उद्धार में भगवान् ने कोई विलक्षण बात नहीं की। किसी ऐसे को तारा हो जो उनको शत्रु समझता हो, सो विदुरजी! इसके एक नहीं अनेकों दृष्टान्त हैं। जिन-जिन असुरों का उन्होंने अपने चक्र से संहार किया, उन सबको मुक्ति दी। आप कहेंगे—'वे लोग हृदय के भक्त रहे होंगे?' सो भी बात नहीं। भगवान् भक्त के अपराधों की ओर नहीं देखते। अपनी भक्त वत्सलता का ही उन्हें सदा स्मरण बना रहता है, कि मेरे नाम के प्रतिकूल कार्य न हो जाय। देखिये, पूतना का क्या काम था? यही न, कि दस दिन तक के सभी बच्चों को मार डाले। उसने एक नहीं हजार दो हजार ;नहीं, असंख्यों बच्चों के प्राण हर लिये थे। यदि कहें उसकी जाति बड़ी होगी? सो बात भी नहीं। जाति की वह राक्षसी थी। आप कहेंगे राक्षसों में भक्त नहीं होते क्या? प्रह्लाद, विभीषण, बलि, बाणासुर ये सब के सब राक्षस ही थे। इसलिये राक्षस होने पर भी सदाचारिणी होगी! उसका भोजन विशुद्ध होगा? सो बात भी नहीं। उसका

भोजन था छोटे-छोटे बच्चों का रक्त। जिनसे सभी को स्वाभाविक स्नेह होता है, उनकी छाती पर चढ़ कर यह उनका रक्त पान कर जाती। दयाहीन होकर बच्चों को माताओं की गोदों से सदा के लिये अलग कर देती।

आप कहेंगे, राक्षसी और अमेध्य भक्षण करने वाली होने पर भी वह किसी शुभ संकल्प से श्रीपति के समीप आई होगी? यह बात भी नहीं। कुचों में कालकूट विष लगाकर भगवान् को मारने की इच्छा से आई थी। तिस पर भी भगवान् ने उसे नरक नहीं भेजा, उसकी दुर्गति नहीं की। उन्होंने अपने चाने की ओर निहारा। यह मेरे समीप चल कर आई है, जो संसार के सभी व्यक्तियों को छोड़कर मेरे समीप आता है, उसे मैं अपने में ही मिला लेता हूँ। वेप भी उसने धाय का बनाया था। यद्यपि उसके मन में कपट था, किन्तु कपट को तो कपटी ही पहचानता है। भगवान् में कपट का लेश भी नहीं, अतः कपट की ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। आकर उसने स्तनों का पान कराया, दुग्ध अर्पण किया। इस प्रकार उसने पूजा भी की। यद्यपि उसने दूध जहर मिला हुआ अर्पण किया, किन्तु ऐसा सन्देह तो वह करता है, जिसके मन में स्वयं पाप होता है। भगवान् तो पाप पुण्य से परे ही ठहरे। इसलिये इनके समीप आने, धाई का रूप बनाने और दुग्ध अर्पण करने के कारण ही अपनी सगी माता के सदृश गति दी। उनका संसार बन्धन सदा के लिये छुड़ा दिया। उस पूतहीना को सपूता बना दिया। आप स्वयं उसके पुत्र बन गये और मरने पर ब्रजवासियों द्वारा उसे जलवा भी दिया। राक्षस आकाशचारी गुप्त होते हैं, अतः अपनी विष पिलाने वाली माता के श्राद्ध के लिये ही उन्होंने

राक्षसों को भोजन कराने को शकट का भंजन किया। राक्षसों को तृप्त किया। ऐसे दयालु को छोड़ कर और किसकी शरण में जायँ ?"

छप्पय

नाम जाति कुल कर्म भाव सम्बन्ध न पेखें।
कहहु जीव अल्पज्ञ अलख कूँ कैसे देखें॥
कैसे हू आजाय ताहि श्री हरि अपनावें।
दुर्जनता दुख मेटि परम निज धाम पठावें॥
पापी, द्वेषी, गुण रहित, नित निन्दे नित अघ करें।
तामस, क्रूर, पिशाच खल, देखि, मरें, तेहू तरें॥

आत्माराम की रमणीय क्रीड़ायें

(११३)

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम् ।
रुदन्निव हसन्मुग्धबालसिंहावलोकनः ॥
स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम् ।
चारयन्ननुगान् गोपान् रणद्वेणुररीरमत् ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २अ० २८, २९ श्लो०)

छप्पय

श्री · वृन्दावन परमरम्य कालिन्दी कुंजें ।
नित वसंत जहँ बसे मधुर स्वर मधुकर गुंजें ॥
गावें रोवें हँसे तहाँ नर नाट्य दिखावें ।
स्वरमय वेनु बजाय ग्वाल सँग गाय चरावें ॥
मामाजी सौगात महँ, भेजे भीषण असुर गन ।
खेले तिनतें बालवत, मारि दई चरननि शरन ॥

स्वभाव को दुस्त्यज बताया है। सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभु का नित्य आनन्द में मग्न रहना ही स्वभाव है। वे किसी भी वेष में अपने को छिपावें, किसी भी देश में विशिष्ट मूर्ति धारण

*उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी ! सर्व समर्थ होने पर भी भगवान् ने कैसी-कैसी कौमारी क्रीड़ाओं का प्रदर्शन किया ! सिंह शावक के

कर लें। उनका वह सहज स्वभाव नहीं जायगा। उनकी सभी चेष्टायें सुखमय तथा आनन्दमय होंगी, दूसरों को उन्हें देखने से अपार सुख होगा, वे स्वयं भी अपनी क्रीड़ा से मुग्ध से दिखाई देंगे। उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी! मथुरा के कारावास से, चोरी से छिप कर डर कर भाग आने पर, ग्यारह वर्ष आप जंगली ग्वालबालों के साथ व्रजमंडल के वन और उपवनों में घूमते रहे। बलदेवजी भी साथ थे। असंख्यों छोटे छोटे गोपकुमार उनके सखा थे, बहुत सी व्रजबालायें और व्रजाङ्गनायें उनकी सहचरी थीं। वहाँ इन्होंने अपनी समस्त बाल लीला की सुषमा बिखेर दी। दिव्य अप्राकृतिक बालक की जो मनमोहिनी चित्ताकर्षिणी लीलायें होती हैं, वे सब उन्होंने व्रज के वनों में प्रदर्शित कीं। वे व्रज के ग्वालबाल धन्य हैं, वन्दनीय और पूजनीय हैं, जिनके साथ श्यामसुन्दर ने अति मनोहर बालकपन के खेल किये। वे गोप, गोपी, गौ तथा ग्वालबाल तो उनके नित्य सहचर ही थे वे तो वन्दनीय हैं ही, हम तो उन असुर और दैत्यों दानवों की भी वन्दना करते हैं, जो चक्रायुध भगवान् के हाथ से मारे गये। जिन्होंने गरुड़ की पीठ पर विराजमान, उनके कन्धे पर कर रखे हुए जगद्वन्द्य भगवान् के दर्शन किये हैं। कैसे भी हों, वे भी भगवान् के भक्त ही हैं। अन्तर इतना ही है, कि द्वेष भाव से भजते हैं और गोप गोपीगण उनको स्नेह और प्रेम भाव से अर्चना करते हैं।

समान वे अपनी बड़ी-बड़ी आँखों में भोलेपन के सहित देखते, कभी हँसते, कभी रोने लग जाते। इसके अनन्तर जब कुछ-कुछ बड़े हुए तब परम शोभायुक्त शुभ्र गौ वृषभ, बछड़े वाले गोधन को चराते हुए अपने सखा ग्वाल बालों को बाँसुरी बजाकर आनन्दित करने लगे।"

वसुदेवजी जब इन्हें नन्दभवन में छोड़ आये, तो वहा नित्य यही धुन सुनाई देती थी—'नन्द के आनन्द भयो जय कन्हैया लाल की।' घुँटुअन चलते थे, व्रज की रज को अपने श्रीअङ्ग में पोन कर दिगम्बर अवधूतों की चर्या का प्रदर्शन करते थे। जब कुछ बड़े हुए, तो माता की उंगली पकड़ कर पाँ-पाँ-पैंया चलने लगे। कुछ और बड़े होने पर ग्वालवालों के साथ श्री यमुनाजी के पुण्य पुलिनों में व्रज के वन्दनीय वनों में बछड़े चराने जाने लगे। जैसे शुभ्र स्वच्छ शोभा युक्त बछड़े थे, वैसे ही मनहर आप भी थे। वे स्वच्छ थे, ये काले थे। वे चार पैर के थे, ये दो पैर के। वे इन्हें प्यार करते, वे उन्हें अपना बन्धु समझते। ये उनके शरीर को खुजाते, निल्हाते, थपथपाते और दूब खिला कर गले से लगाते। वे इन्हें चाटते अपने छोटे-छोटे सींगों की हुडड मारते। नित्य जिसमें वसन्त की बहार ही बनी रहती है, ऐसे वृन्दावन में वस कर वृन्दावन विहारी बछड़ों और बालकों के बीच में बढ़ने लगे।

थोड़े और बड़े होने पर अब गौओं और साँड़ों को भी लेकर गोचारण को जाने लगे। कैसी भोली-भोली थी उनकी चितवन, कैसा सुन्दर गठीला था उनका श्री अङ्ग, कैसे उतार चढ़ाव वाले और उपयुक्त थे उनके अंग-प्रत्यंग, कैसी मधुर थी उनकी वंशी? सिंह शिशु की भांति वे इठला कर चलते, राजहंस के समान उनके चरणों के नुपूर कल-कल करते वे इधर से उधर सबको मुग्ध बनाते हुए बिना पादत्राण के नंगे पैरों ही पृथ्वी पर विचरण करते। उनके पाद पद्म इतने सुकुमार थे, कि मेदिनी भी लज्जित हो जाती, वह पिघल जाती और उन चरणों के चिह्नों को अपने हृदय में छिपा लेती। आप बाल विनोद में कभी ठुमक-ठुमक कर नाचते, कभी कान पर हाथ

रख कर उच्च स्वर से गाते, कभी लाठी को घुमाते, कभी पेड़ पर चढ़ते, कभी किसी के कंधे पर उछल कर चढ़ते कभी किसी से लड़ते झगड़ते। कभी विचित्र वेप बनाकर विविध प्रकार की क्रीड़ायें करते।

उनके मामा कंस ने खेलने के लिए बहुत से खिलौने भेजे। वे खिलौने भयंकर हैं—इस ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। वे खेलने को नहीं, अनिष्ट करने को भेजे हैं, यह सोचा ही नहीं। वे किस भाव से भेजे गये हैं, इस पर विचार करना उन्होंने व्यर्थ समझा। बस भेजे हैं, यही उनके लिए पर्याप्त था। अच्छे बुरे का भेद हम स्वार्थियों ने अपनी सुविधा के लिए बना लिया है। संसार में न कोई अच्छा है न बुरा। ये सभी श्यामसुन्दर के है। वे स्वयं अच्छे हैं, अतः उनकी सब वस्तुयें भी अच्छी ही हैं। जो स्वयं शिव स्वरूप है, वे अशुभ की सृष्टि करेंगे ही क्यों ? जिन्हें हम बुरा कहते हैं, दूसरे लोग—जिनका उनसे स्वार्थ सधता है उन्हें अच्छा बताते हैं। भगवान् को शिशुपाल ने गालियाँ दीं। उन्होंने गालियों को ही स्वीकार कर लिया। पूतना ने जहर दिया, जहर को पी गये। सुदामा ने चावल दिए उन्हें ही चबा गये। दुर्योधन ने उनके सम्मुख मान का प्रदर्शन किया, अतः आपने उसके मान का भी मर्दन करा दिया, उसे भी अपनाया। कंस मामा ने, मारने को ही सही; ये राक्षस रूपी खिलौने भेजे तो हैं, अब मामा की दी हुई चीजों को लौटावे कैसे ? यह तो शिष्टाचार के विरुद्ध है। दान की वस्तु लौटाई नहीं जाती। मामा की सौगात ग्रहण कर लेना भानजे का कर्तव्य है। अतः मामा ने जितने भी असुर राक्षस भगवान के समीप भेजे एक को भी उन्होंने मथुरा लौटने नहीं दिया। थोड़ी देर उससे खेल कर चलना

चूर करके नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, तोड़ मरोड़ कर ब्रजरज में छोड़ दिया।

कालिग नाग ने उन्हें काटना चाहा, उनके समस्त श्री अंग में विष भर देना चाहा। आप तो विषहारी ही ठहरे। विष उनका क्या कर सकता था? कालिय नाग का दमन किया और उससे कह दिया—यमुनाजी से अपने डेरे डंडे उठाओ। अपने टाट कमंडलु बाँधकर फिर रमणक द्वीप में चले जाओ। गौओं और गोपों के विष को उतारा और कालियह्रद का परम स्वादु पय गौ और गोपों को पिलाया।

विदुर जी! भगवान् ने बालक होने पर भी अपने बड़े बूढ़ों को कैसी-कैसी सुन्दर शिक्षायें दीं। घर में यदि धन बढ़ जाय और नौका में यदि पानी भर जाय, तो बुद्धिमान् पुरुष इन दोनों को उलीचते हैं। यदि लोभवश इन बढ़ी हुई वस्तुओं को जमा होने दें, तो बोझा बढ़ जायगा, नौका भी डूब जायगी और हम उस पार भी न जा सकेंगे। अतः बढ़े हुए धन का सर्वश्रेष्ठ सद्व्यय यह है, कि उससे यज्ञ पुरुष भगवान् श्यामसुन्दर का भजन करे, उनके अभिन्न विग्रह श्रेष्ठ विप्रों को मान सम्मान और दान द्वारा सन्तुष्ट करे। विविध यज्ञों द्वारा पुराण पुरुष की पूजा करे। ऐसा करने से लोक परलोक दोनों बनते हैं।

भगवान् जब से ब्रज मंडल में प्रकट हुए, तब से समस्त ब्रज भूमि लक्ष्मी की क्रीड़ास्थली बन गई। यहाँ आकर लक्ष्मी खुल कर खेलने लगी। नन्दजी की धन-सम्पत्ति का ठिकाना नहीं। उनके द्रव्य की गणना नहीं। लाखों गौओं का इतना घृत एकत्रित हो गया था, कि उसे रखने को कहीं स्थान ही न

रहा। तब भगवान् श्यामसुन्दर ने उनसे इन्द्र की पूजा छुड़ाकर गोवर्धन की पूजा कराई। आप पूछेंगे इन्द्र की पूजा क्यों छुड़ा दी ? क्या इन्द्र देवताओं के अधिपति नहीं हैं ? क्या वे पूजार्ह नहीं हैं ? क्यों नहीं, अवश्य हैं। वे देवताओं के राजा भी हैं, वर्णाश्रमियों को उनकी पूजा करनी ही चाहिये; किन्तु जहाँ उनके बाप का भी बाप बैठा है, वहाँ उनकी ही आज्ञा से यदि पूजा न भी की जाय तो कोई हानि नहीं। दूसरे विनोदी का विनोद ही जो ठहरा। लीलाधारी की लीला ही जो ठहरी। इन्द्र के अभिमान को भी चूर करना था, उसे भी दंड देना था उसे भी यह बताना था, कि तुमसे भी ऊपर कोई है। उस समय का इन्द्र भगवान् को भूले हुए था। वह भगवान् को भी एक मर्त्यलोक का गोप बालक ही मानता था। उसे अभिमान हो गया था कि मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ। अतः गर्वहारी ने उसके गर्व को खर्व करने के लिए ऐसी क्रीड़ा रची, ऐसा विनोद किया। जब गोपों ने भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके इन्द्र के स्थान में प्रत्यक्षदेव हरिदासवर्य गिरिराजगोवर्धन की पूजा की तब तो इन्द्र के कोप का ठिकाना नहीं रहा। एक तो भूखा बाघ, दूसरे उसे कुपित कर दिया जाय, जिस प्रकार वह अपने कुपित करने वाले का सर्वनाश करने पर उतारू हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्र ने नन्दनन्दन के सहित समस्त व्रजवासियों को नष्ट कर डालने का निश्चय किया और प्रलय की वर्षा के समान व्रजवासियों के ऊपर मूसलाधार वर्षा की। भगवान् हँसे। वे इधर उधर छाता ढूँढ़ने लगे। व्रजवासियों के पास छाते तो थे, किन्तु इतने बड़े नहीं थे जिनसे सभी गोप-गोपी गोपकुमार और गायें वर्षा से बच सकें। मूर्तिमान गोवर्धन माल खा-खाकर मोटे हुए भगवान् के भाव को ताड़

गये। वे उछल कर भगवान् के हाथ में आ गये। उन्होंने उसे उंगली पर ही रख कर सब को वर्षा के जल से बचा लिया, करुणा वश सब की रक्षा की। अपने श्रीहस्त से छत्र-छाया करके उन अनाथों को सनाथ बना दिया। उन्हें विपत्ति-वारिधि में डूबते देख दया वश बचा लिया।

विदुरजी! व्रज में असंख्यों लीलाएँ उन यशोदा-आनन्द-वर्द्धन, व्रजमंडल-मंडन, गोपीजन-वल्लभ ने की। वे सब की सब रसमय और भावमय लीलायें थीं। उनके श्रवणमात्र से मनुष्य संसार सागर से बात की बात में पार हो जाता है। पूतना-बध से लेकर अक्रूरागमन तक जो-जो लीलायें की वे सभी मन-हर रस से पूर्ण हैं, किन्तु रासलीला में जो उन्होंने अपना दिव्यरस अलौकिक आनन्द प्रकट किया, वह वाणी का विषय नहीं। रासलीला व्रज की समस्त लीलाओं से सुखद मनोज्ञ और रस रूपा है। उस लीला में उन्होंने अपने सौन्दर्य माधुर्य्य की पराकाष्ठा कर दी। कोटि कन्दर्पों को भी लज्जित करने वाले उनके उस रूप रस का जिन्होंने नयनों द्वारा पान किया और आलिंगन परिरंभण और चुम्बन द्वारा उन आत्माराम के साथ रमण किया, विदुरजी, मैं तो उन्हीं गोपियों की चरणरज का उपासक हूँ। वे ही भाग्यवती व्रजांगनायें मेरी शिक्षा-दीक्षा की गुरु हैं। उन्हीं के पाद-पद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ। विदुरजी! रासलीला का विषय बड़ा ही गहन है, अतः उसका मैं यहाँ वर्णन करूंगा, वह तो भावमय वस्तु है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! इतना कहकर उद्धवजी थोड़ी देर के लिए चुप हो गये। रास-क्रीड़ा का प्रकरण आते ही उन्हें भाव समाधि हो गई।"

छप्पय

नाथ्यो कालियनाग नीर—ह्रद निर्मल कीन्हों।
इन्द्रयाग को भाग राज गिरवर कूँ दीन्हों॥
कर्यो कोप सुरराज प्रलय को जल बरसायो।
व्रज वासिनि करि अभय शैल कर कमल उठायो॥
ग्वाल बाल गोपी गऊ, जब जल तें निर्भय भये।
रस बरसायौ रास महँ, हरि अन्तर्हित ह्वै गये॥

मथुरापुरी की लीलायें

(११४)

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रो—
श्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथम्,
हतं व्यकर्षद्‌व्यसुमोजसोर्व्याम् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० ३ अ० १ श्लो०)

छप्पय

वृन्दावन महँ प्रकट चरित अनुपम दरशाये।
मधुपाजी तें गये फेरि मथुरा महँ आये॥
मामा को आतिथ्य ग्रहण करि हरषि पधारे।
गज मुष्टिक चाणूर दुष्ट सब पकरि पछारे॥
सब असुरनि के मुकुटमणि, कुल कलंक वा कंस कूँ।
मारि घसीट्यो गलिन महँ, अभय करयो यदुवंश कूँ॥

पृथ्वी गोल है। संसार चक्र बार-बार घूमता रहता है। आज जिसे हम छोड़ कर चल दिये, कालान्तर में हम फिर वहीं पहुँच जाते हैं। कल जिससे डरते थे, आज वही हमसे

---

*उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी! फिर श्यामसुन्दर अपने भाई बलदेवजी के सहित माता पिता को सुख देने के निमित्त व्रज से मथुरा

डरता है। कल जिसके डर से बड़े-बड़े चक्रवर्ती काँपते थे, आज वही साधारण मनुष्यों से अपमानित होता है। यह सब समय की महिमा है, काल भगवान् की क्रीड़ा है। बलाबल को करने वाले कालदेव की कुटिल गति है, इसे ही दर्शाने को भगवान् ने मनोऽप्योचित क्रीड़ायें कीं।

उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी! ग्यारह वर्ष तक भगवान् व्रज में प्रकट लीलाओं के द्वारा व्रजवासियों तथा व्रजाङ्गनाओं को संयोग सुख का आस्वादन कराते रहे। फिर आपने अपनी प्रकट लीला को व्रज से संवरण किया। व्रजवासियों के हृदयों से तो वे जा ही कैसे सकते थे? उनके हृदयों में तो वे सदा निवास करते थे। उनके सँग तो उनकी नित्य लीला होती हैं, किन्तु लोक दिखावे को वे अपने मामाजी के बुलाने से अक्रूर के साथ मथुरापुरी गये।

आप पूछेंगे—क्या कंस मामा से बदला लेने गये? अजी कृष्ण कहो, बदला लेने की उन्हें क्या आवश्यकता थी? बदला तो वह लेता है, जो क्रोधी हो, जिसकी दृष्टि में मान अपमान का ध्यान हो। भगवान् तो वसुदेव और देवकीजी को सुख पहुँचाने गये थे। उनकी बढ़ी हुई भावना को पूर्ण करने पधारे थे। उनके प्रत्येक कार्य का एक ही उद्देश होता है; वह यही कि किसी भी प्रकार मेरे भक्तों को सुख मिले। मथुरा वासिनी नारियाँ जब वृन्दावन की बातें सुनतीं, व्रजाङ्गनाओं के अनुपम प्रेम की चर्चा उनके कर्ण कुहरों में प्रवेश करती, तो वे बार-बार पश्चात्ताप करतीं—'हाय! हम उस सौन्दर्य्य माधुर्य्य की सजीव

पधारे। वहाँ समस्त यदु समुदाय के समक्ष कंस को उच्च मंच से गिरा कर उसकी निर्जीव देह को बलपूर्वक पृथ्वी पर घसीटा।"

साकार मूर्ति को न देख सकीं। क्या कभी हमारे भी ऐसे भाग्य होंगे, जो श्यामसुन्दर को अपने इन चर्म चक्षुओं से प्रत्यक्ष निहार सकेंगी ?' मथुरा नगर निवासी पुरुष जब गोपों के सौभाग्य के समाचार सुनते तो सोचते—कभी उन नट-नागर व्रजनवचन्द्र घनश्याम की छटा देखने का सौभाग्य हमें भी प्राप्त होगा क्या ? मल्लों के कानों में जब कृष्ण की अखाड़े की कुश्तियों की बात सुनाई देती, तो उनकी भुजाएँ फरकने लगतीं। क्या श्रीकृष्ण कभी अपने अङ्गों को हमारे अङ्गों में सटा कर हमसे भी कभी युद्ध करेंगे ? क्या पशु बल में ही पड़े हुए हम द्विपद पशुओं का कृपा के सागर आकर कभी उद्धार करेंगे ? कंस मामा तो सोते-जागते, उठते-बैठते चलते-फिरते, खाते-पीते, नहाते-धोते सब समय उन्हीं का ध्यान करते। कहीं आ तो नहीं गये ? श्याम मेरे काल हैं, कृष्ण मुझे कब मारेंगे ? मेरा वध उनके ही द्वारा होगा।' भय से व्याकुल हुए मामा भानजे का ही ध्यान करते रहते। वसुदेवजी जब सुनते—अब मेरा बच्चा बड़ा हो गया। अब तो वह असुरों को मुष्टि से ही मार देता है, दानवों को हँसते-हँसते पछाड़ देता है—तब तो उनके हर्ष का ठिकाना न रहता। गत भाद्रपद की अष्टमी को मेरा बच्चा दस वर्ष का हो गया। इस अष्टमी को ग्यारह वर्ष का पूरा हो जायगा। वह शुभ दिन मंगल मुहूर्त कब होगा, जब मैं अपने बच्चे को छाती से लगा कर प्यार कर सकूँगा ?

इधर माताजी दिन रात अपने उस नूतन जलधर के समान श्याम रङ्ग वाले पुत्र को याद करती रहतीं। स्नेह से उनके स्तनों से दूध बहने लगता, वे विह्वल हो जातीं, उनको क्षण-क्षण भारी हो जाता। वे इसी प्रतीक्षा में सोतीं, कि सम्भव

है प्रातः—अपने प्रिय पुत्र का सुन्दर मुख देख सकूँ। उठते ही वे वृन्दावन की ओर निहारने लगतीं। ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता, उनका मुख म्लान होता जाता। भगवान् भुवन भास्कर अस्ताचल में प्रस्थान कर जाते। माँ निराश हो जातीं अब आज क्या आवेगा? कल आवे तो आवे। इस प्रकार दिन रात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और वर्ष के ऊपर वर्ष बीत जाते। दिन गिनते-गिनते ग्यारह वर्ष इसी चिन्ता में विताये।

पूर्व समय में देवताओं ने सांदीपनि मुनि से कहा था—स्वयं साक्षात् परब्रह्म तुम्हारा शिष्यतत्व स्वीकार करेंगे। तुम्हारे समीप अवन्तिपुरी में पढ़ने आवेंगे। वे काशी वासी ब्राह्मण थे, वहीं उत्पन्न हुए, वहीं पढ़े। अब भगवान् तो आवेंगे अवन्तिपुरी मे वहाँ चलो चलें। अवन्तिका ब्रज के समीप है। काशी से चलकर ब्राह्मण अपनी पत्नी के सहित अवन्तिपुरी में आये। दूर-दूर से छात्र उनके समीप पढ़ने आने लगे, किन्तु भगवान् तो अभी नहीं आये। रात्रि दिन उन्हें यही चिन्ता बनी रहती थी। ये सभी भगवान् के अनेकों जन्मों के भक्त थे। जैसे चातक स्वाति बूँद की प्रतीक्षा में मुँह खोले बैठा रहता है, उसी प्रकार ये सब बैठे रहते थे। घट-घट की जानने वाले प्रभु उनकी उत्सुकता को बढ़ाने के लिये ब्रज में खेल करते रहे। जब इन सब की उत्कंठा पराकाष्ठा पर पहुँच गई, तब तो आप अपने बड़े भाई बलदेवजी को साथ लेकर—अक्रूर चचा के संग रथ पर बैठ कर—सजी सजाई मथुरापुरी में आ गये। मथुरा निवासी नर-नारियों ने उनको अनुपम सौन्दर्य माधुर्य रूपा सुधा का अतृप्त होकर उत्सुकता के सहित पान किया। सभा में बैठे सभासदों ने उस सर्जव

सौन्दर्य का स्वागत किया। अपनी चिरभिलषित वस्तु को नेत्रों के सम्मुख पाकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। मल्लों ने दो दो हाथ किये, नवनीत से भी कोमल उनके श्रीअङ्ग का स्पर्श किया। उसमें मुक्के मारे और उसे कसकर पकड़ कर छाती से चिपटा लिया। उन महाभाग मल्लों के भाग्य की सराहना कौन कर सकता है, जिनके एक अङ्ग अधर के एक बार स्पर्श करने के लिये व्रजाङ्गनाओं ने कितने व्रत, उपवास, जप, तप किये। उन्हीं श्यामसुन्दर के समस्त शरीर को अङ्क में भर कर वे बलपूर्वक मसल रहे थे। श्यामसुन्दर उनके ऊपर चढ़ कर अपने कमल से भी कोमल करों से उन पर प्रहार कर रहे थे। जिसको श्यामसुन्दर ने अपना लिया; फिर वे इस शोक मोह पूर्ण संसार में रह कर क्या करेंगे? भगवान् ने उन्हें अपने सुखमय आनन्दमय धाम पहुँचा दिया।

मामाजी को तो मारो-मारो यही दो शब्द याद हो गये थे। उसे पकड़ो, उसे मारो उसे पछाड़ो—यही बार-बार बक रहे थे। यह मुझे मार डालेगा, यह मेरा काल है। यही उनकी दृढ़ धारणा थी। भगवान् तो सबके हृदय को भी जानते हैं। इसीलिये ऊँचे मंच से मामाजी को गिरा कर उन्हें उनकी भावना के अनुसार मार दिया। फिर सोचा—मामा तो बड़े मानी थे। उन्होंने कभी साष्टांग प्रणाम न किया होगा। बिना साष्टांग प्रणाम किये शरीर में व्रजरज लग नहीं सकती। जिस शरीर का स्पर्श व्रजरज से नहीं हुआ उनका उद्धार होना असंभव है। अतः इनके अङ्ग का अभिषेक व्रजरज से न हुआ, तो इनकी दुर्गति होगी। यही सोच कर उन्हें मार कर टांग पकड़ कर श्री मथुरा की गलियों में उसी प्रकार उन्हें घसीटा जैसे बच्चे खेलनी गाड़ी को घसीटते हैं।

फिर बन्दी-गृह में पड़े हुए अपने माता पिता को जाकर सन्तुष्ट किया। वृन्दावन में तो चटसाल थी ही नहीं, वहाँ दिन भर गौएँ चराते रात्रि में सो जाते, पढ़ने लिखने का काम भी नहीं था। गौओं की गणना का काम था, सो उसे माला के दानों के संकेत से कर लेते। वहाँ तो अपढ़ ही रहे। माता पिता ने सोचा—बच्चे पढ़े नहीं तो इनका विवाह भी न होगा। बिना पढ़े-लिखे को अपनी कन्या कौन देगा? इसी चिन्ता से इच्छा न होने पर भी उन्हें अपने घर से दूर अवन्तिका नगरी में दोनों को पढ़ने के लिये भेजना पड़ा।

सान्दीपनिजी देखते ही ताड़ गये, हो न हो ये ही भगवान् हैं। एक बार जो पढ़ाया उसी समय कण्ठ हो गया, तब तो वे समझ गये—ये पुराण पुरुष हैं। पढ़ना लिखना तो इनका लोक संग्रह मात्र है, ये सब पढ़े, लिखे हैं, इन्हें कुछ भी पढ़ना लिखना नहीं है। फिर भी गुरु बनने का लोभ तो सब लोभों से बड़ा है। मूर्ख से मूर्ख के पास जाओ, उससे भी कुछ पूछो, वह भी गुरु बन जायगा। सभी लोग इसी ताड़ में रहते हैं, कोई न कोई चेला बन जाय, कोई फंस जाय। चाहे उपदेश करने की योग्यता न भी हो, तो भी हम समीप आये हुओं के सम्मुख अपने को ब्रह्मा से भी चार हाथ ऊँचा प्रदर्शित करते हैं। सान्दीपनि मुनि ने सोचा—इस देव दुर्लभ पद को क्यों छोड़ते हो? जब चौंसठ दिनों में चौंसठ कलायें सुनकर ज्यों की त्यों सुना दीं और गुरु दक्षिणा के लिये कहा, तो वृद्ध ब्राह्मण हक्का-बक्का रह गया इन सर्व समर्थ ईश्वरों के भी ईश्वर से क्या माँगें? अपनी घर वाली से सलाह ली। स्त्री को सबसे सुख की वस्तु है पुत्र संयोग; सबसे बड़ा दुःख है पुत्र वियोग। मरे हुए पुत्र की

माँग गुरु माता ने की। भगवान् ने मरे हुए पुत्र को लाकर दे दिया और फिर मथुराजी में आ गये।

बालकपन में जैसी टेव पड़ जाती है, वह अन्त तक नहीं छूटती। पैदा होते ही भगोड़े बने। मथुरा छोड़ कर गोकुल भाग गये। अब यहाँ से भी भागदौड़ मचाई। डर कर भागे और समुद्र के बीच द्वारावती में जाकर अपना ठाठ जमाया।"

उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी! भगवान् की लीलाओं में कोई कारण नहीं, कोई हेतु नहीं। वे होती हैं, क्योंकि वे आनन्द के राशि हैं। उस राशि में से जो भी निकलेगा वह सुखद ही होगा। अतः उनकी प्रत्येक लीला सुख देने वाली ही होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विदुरजी वृन्दावन और मथुरा की लीलाओं का संकेत करके अब द्वारका की लीलाओं को सुनाने को प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

विदुर! कृपा वश कृष्ण करें क्रीड़ा जा जग महँ।
जहँ जहँ सुमरहिं भक्त, होयँ परकट प्रभु तहँ तहँ॥
कहूँ पुत्र बनि प्रेम सहित पितु पगकूँ पूजें।
कहूँ धारि के अस्त्र शस्त्र ले रण महँ जूझें॥
जाकी वाणी वेद हैं, सभी शास्त्र उच्छ्वास हैं।
जाहिँ पढ़न चटसारतें, सब उनके परिहास हैं॥

द्वारावती की लीलायें

(११५)

कालमागधशाल्वादीननीके रुन्धतः पुरम्।
अजीघनत्स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत्॥
शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च।
अन्यांश्च दन्तवक्त्रादीनवधीत्कांश्च घातयत्॥*
(श्री भा० ३, स्क० ३ अ० १०, ११ श्लो०)

छप्पय

मथुराहू तें भगे डरे द्वारावति आये।
करे न कोई ब्याह दाव अरु पेंच भिड़ाये॥
करयो राक्षस ब्याह, छीनके कन्या लीन्हीं।
रुक्मी क्रोधित भयो दुर्दशा ताकी कीन्हीं॥
बाणासुर, शम्बर, द्विवद, दंतवक्त्र बल्वल असुर।
मरवाये मारे कछू, हरयो भार भू सुरेश्वर॥

जिसका जन्म जैसे नक्षत्र में होता है। जीवन भर उसे वैसी ही घटनाओं का सामना करना पड़ता है। पूतके पाइँ पालने में ही दिखाई दे जाते हैं। जन्म के शुभाशुभ, पैदा होते ही

* उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी! मथुरा में आने पर कालयवन, जरासन्ध और शाल्व आदि दुष्टों ने जब सेनाओं सहित भगवान् की

प्रतीत होते हैं। छठी के दूध का प्रभाव प्रारम्भ से ही प्रकट होने लगता है। कृष्ण पक्ष में जन्म हुआ, इसलिये काला रङ्ग होना स्वाभाविक ही है। रात्रिमें जन्म, अतः कोई भी उनकी चेष्टा को नहीं समझ सकता। पैदा होते ही योग माया को बुलाया अतः सामने होते हुए भी लोगों की बुद्धि पर परदा पड़ जाता है। अन्तःकरण के भीतर बैठे हुए भी उन्हें कोई माया से मोहित होने के कारण देख नहीं सकता। पैदा होते ही भगे, इसलिये इनके घर द्वार का निश्चय नहीं। जब अवसर देखा भाग खड़े हुए। जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर बताया है, किन्तु जब इन्हें भागने की धुनि सवार हो जाती है, तो जननी जन्मभूमि सभी को भुलाकर भाग खड़े होते हैं। जिसका पैर एक बार निकल गया, फिर वह स्थाई रूप से एक घर में टिक नहीं सकता। पालने में ही पूत ने पूतना को पीस दिया, इसलिये जीवन भर पापियों को पीटते पिटवाते रहे।

उद्धवजी कहते हैं—'विदुरजी! भगवान् की बातां पूछते हो, उनकी बातें तो सभी विचित्र ही हैं। दूसरों की यह बातें होतीं, तो हमें कहने में लज्जा भी लगती, किन्तु इनके लिये तो सभी धान बाईस पसेरी ही हैं। मान अपमान, जय पराजय में भी ये आनन्द का ही स्रोत बहाते रहते हैं। देखिये, काल-

---

पुरी को घेर लिया, तो उन दुष्टों को भगवान् ने स्वयं मारा यद्यपि उन्हें मुचुकुन्द भीमसेन आदि से मरवाया था, किन्तु उन अपने भक्तों को उन्होंने मारनेवाला दिव्य तेज स्वयं ही प्रदान किया था, शम्बर, द्विविद, बाणासुर, मुर, बल्वल, तथा दन्तवक्त्र आदि असुरों में से किसी को तो स्वयं ही मारा और किसी को अपना तेज देकर दूसरों से मरवा डाला।"

यवन और जरासन्ध के भय से मथुरा छोड़ कर नंगे पैरों उनके सामने ही मुट्ठी बाँधकर भाग खड़े हुए और समुद्र के बीच में द्वारावती पुरी बसाकर रहने लगे ! अब ऐसे भगोड़े का विवाह कौन करे ? विवाह में तो घर और वर दोनों देखे जाते हैं। घर तो इनका कोई निश्चय ही नहीं। वृन्दावन में कंधे पर लाठी रख कर काला कम्बल ओढ़े, छकड़े में बर्तन भाँड़े लादे, गौओं को आगे-आगे हाँकते हुए, एक वन से दूसरे वन में भटकते रहे। जहाँ कहीं रहना हुआ, घास फूस के गोष्ठ बना लिये, करील, बबूल की बाढ़ बाँध कर गोशाला रच ली। आज इस वन में हैं, कल उस वन में। इस प्रकार व्रज चौरासी कोस के बारह वन और बारह उपवनों में घूमते फिरे। फिर आये मथुरापुरी में कि अब ग्वारिया से राजा बनेंगे। राजधानी बना कर राज्य सुख भोगेंगे। किन्तु नक्षत्र का फल अन्यथा कैसे हो सकता है ? वहाँ से भी घर द्वार उठाकर भागे और समुद्र के बीच में घर बनाया। द्वारावती नई-नई ही बसाई थी। अभी तक लोगों को विश्वास नहीं था, कि 'यहाँ भी ये टिकेंगे या नहीं मेरी बच्ची गृहणी बनेगी, घर की मालिकिन होगी, जिसके घर ही नहीं उसे लड़की दे दें, तो उसका क्या पता, छोड़ छाड़कर भाग खड़ा हो। इसलिये सभी राजा ऐसे भगोड़े से डरते थे। जान बूझकर अपनी कन्या को कौन घर द्वार हीन बनावे। बलदेवजी ने तो जैसे तैसे छोटी बड़ी का विचार न करके किसी तरह गठबंधन कर लिया था; किन्तु इनकी कहीं से तिकड़म न भिड़ी। तब तो नारदजी की सहायता लेनी पड़ी। छीनने-झपटने की आदत तो व्रज से ही पड़ चुकी थी। माखन चुराते-चुराते साहस बढ़ गया था। सुई चुराते-चुराते ही सुमेर चुराने का साहस हो जाता है। वे सोचने लगे—अच्छी बात है, कोई राजा

से कन्या नहीं देता, तो हम विना राजी के ही ले आवेंगे, वल पूर्वक छीन लावेंगे। अविवाहित रह कर अपनी हँसी न करावेंगे।

विदुरजी! भगवान् को विवाह की क्या कमी थी और क्या आवश्यकता थी, किन्तु उन्हें तो लोकवत् लीला करनी थी, अपना अतुल ऐश्वर्य और अप्रतिम प्रभाव दिखना था। सबके देखते-देखते भवानी के मन्दिर से पूजा करके लौटती हुई रुक्मिणीजी को ब्याह के दिन दूसरे दूल्हा को द्वार पर ही रोता छोड़ कर रथ में बिठाकर भगा लाये। सब कहने लगे—कौन ले गया, कहाँ गया? किन्तु इन्होंने किसी की सुनी ही नहीं आनन-फानन में अपनी चीज को लेकर यह गये वह गये। सब टुकुरु-टुकुरु देखते के देखते ही रह गये। अब तो साहस बढ़ गया। एक, चार, दो, छै, दस, बीस, सौ, दो सौ, पाँच सौ, हजार, इस तरह सोलह हजार एक सौ आठ विवाह किये। कैसी उनकी लीला है?

नाग्नजिती को जीतने के लिये सात बैलों को सात रूप रख कर नाथ लिया। किसी को जीतने के लिये मत्स्यभेद किया। कहीं जाकर कन्या को मांग लिया। इस प्रकार पत्नियों की अलग एक बस्ती ही बसा दी। विदुरजी! आप तो भगत ही ठहरे। विदुरजी भी भगतिनि ही हैं। आपको क्या पता कि पुरुषों को अपनी रूठी हुई पत्नियों को मनाने के लिये, उन्हें प्रसन्न करने के लिये क्या-क्या अकर्तव्य कार्य करने पड़ते हैं। भगवान् इन सब कामों में बड़े दक्ष थे। उनकी एक पटरानी सत्यभामा, बड़ी मानिनी थी। बात-बात में तुनुक उठती, मुँह फुला कर बोलना बंद कर देती। भगवान् को भी खरी-खरी सुना देती, किन्तु

वे तो ईश्वर थे, सर्वज्ञ थे, सर्व समर्थ थे, अपनी प्रिया का प्रिय करने के लिये वे सब कुछ कर सकते थे। उनके कहने से बल पूर्वक बिना पूछे इन्द्र के नन्दन वन से कल्पवृक्ष को उखाड़ लाये। इस पर उनके प्रभाव को भूलकर, क्रोध में अन्धे होकर इन्द्र लड़ने आये। उनकी बहूने भी उन्हें उकसाया, किन्तु बलवान् से क्या लेते ? अपना सा मुँह लेकर लौट गये। आठ पटरानियों को तो इधर उधर से लाये, सोलह हजार एक सौ तो एक ही जगह मिल गईं—भाग्य वश एकत्रित खजाना मिल गया। भौमासुर के बन्धन में पड़ी उन कन्याओं का उसे मार कर उद्धार किया। उसकी पत्नी—पृथ्वी के अंश से उत्पन्न होने वाली की प्रार्थना से उसके पुत्र भगदत्त को भौमासुर का राज्य दे दिया और सब कन्याओं से तत्काल उतने ही रूप बनाकर विवाह कर लिया। लड़ाई झगड़े से बचने के लिये बिना भेदभाव के सबसे अपने समान सुन्दर दस-दस पुत्र पैदा किये।

व्रज में तो अनेकों असुरों को बिना शस्त्र के लात घूँसों तथा मुक्कों से ही मारा था। वहाँ से आकर भी अनेकों असुररूप धारी पराक्रमी और सिंहासनासीन राजाओं को स्वयं मारा या दूसरों से मरवाया उनमें कालयवन, जरासन्ध, शाल्व, शम्बर, द्विविद, बाणासुर, मुर, दन्तवक्त्र, दुःशासन, शकुनि दुर्योधन के सौ पुत्र ये मुख्य थे।

यह तो विदुरजी ! मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि इन पर टाली बैठे रहा नहीं जाता। बैठना ही होता तो क्षीर सागर से बढ़ कर सुन्दर शान्त एकान्त जगह और कहां मिलेगी ? जहां न मार्खी न मच्छर, खटमल और जूओं का भी भय नहीं शेषजी के अत्यन्त कोमल गुदगुदे अंग की सुन्दर शैया

लक्ष्मीजी जहाँ उनके श्रीचरणों को अपने सुखस्पर्शी ऊरुओं पर रख कर कमल से भी कोमल करों से दबाती रहें, आराम करने को इससे सुन्दर साधन कहाँ मिलेंगे। जब आराम करना होता है, तब तो वहाँ सोते हैं। जब धूमधड़ाके की इच्छा होती है, तब अवनि पर अवतार लेते है। तब इसे मार, उसे मार इससे भिड़, उससे भिड़, यही कौतुक करते रहते हैं। अपने से कोई न भी लड़े तो किसी का पक्ष ले लेते हैं, एक को दूसरे से लड़ा देते हैं और आप तटस्थ बन कर तमाशा देखते रहते हैं। समयानुसार कभी किसी का बल बढ़ा देते हैं, कभी किसी का घटा देते हैं।

धृतराष्ट्र और उनके पुत्रों ने इनके पधारने पर इनका बड़ी धूमधाम से स्वागत किया था। वे बार-बार कहते थे, कि आप जैसे ही पांडवों के सम्बन्धी वैसे ही हमारे। किन्तु ये मानते ही नहीं थे, इनकी एक ही टेक थी। जो मेरे भक्तों से शत्रुता रखता है, वह चाहे मेरी कितनी भी ठाठ बाट से पूजा प्रतिष्ठा करे वह मेरा शत्रु है। उन्हें चहल पहल पसन्द थी। कुछ धूमधड़ाका होता रहे। उन्हें भूमि के बढ़े हुए भार को हलका करना था, भाई भाइयों को परस्पर में भिड़ा दिया और आप निःशस्त्र होकर देखते रहे। दुर्योधन ही जिन सबका अग्रणी था, उन सब पराक्रमी शूरवीरों को मार कर अंत में दुर्योधन को भी भीमसेन से मरवा दिया। सब को बड़ी प्रसन्नता हुई। सबने सोचा—चलो अच्छा हुआ, पृथ्वी का बढ़ा हुआ भार उतर गया। अठारह अक्षौहिणी सेना मारी गई। इसमें सभी भूमंडल के अभिमानी, देवताओं के कंटक मनुष्य शरीर में उत्पन्न हुए दैत्य मारे गये किन्तु भगवान् प्रसन्न नहीं हुए। सोचने लगे—बाहर के शत्रु तो

अवश्य मारे गये, किन्तु मेरे घर में जो ये शत्रु बैठे हैं, वे भी तो पृथ्वी के भार ही हैं। मदिरा पान करके तृप्त हुए ये यादव अपने सम्मुख किसी को कुछ समझते ही नहीं। मेरी छत्रछाया में रहने के कारण कोई इन्हें मार भी नहीं सकता। इनका बाल भी बांका नहीं कर सकता। दूसरों के द्वारा ये अजेय हैं। जब तक ये जीते हैं, तब तक पृथ्वी का सम्पूर्ण भार उतरा हुआ नहीं समझा जा सकता। कैसे मारे जायँ ? यही विचार उनके मन में उठा।

विदुरजी ! उनके लिये अपना-पराया नहीं। उनके यहाँ प्रेम को स्थान है, मोह को नहीं। दुष्टता कोई भी करे उनका दमन वे करते हैं। भक्ति किसी वर्ण, किसी आश्रम का करे उसका प्रतिपालन वे हर प्रकार से करते हैं। अब उन्हें यादवों के संहार की चिन्ता हुई। भगवान् सोचने लगे—किसी तरह से ये परस्पर में ही लड़ पड़ें। मदिरा के मद से उन्मत्त होकर ये मोह ममता का परित्याग करके एक दूसरे को मारने लगें, तब तो इनका संहार संभव है। नहीं तो मेरे अंश से उत्पन्न होने वाले इनको कोई दूसरा मारने में समर्थ नहीं हो सकता। इसके लिये यदि मेरा उद्योग हो तो ये मर सकते हैं।

भगवान सत्य संकल्प हैं, उनके संकल्प होते ही मानों यादव गतायुष हो गये। उनकी कान्ति नष्ट हो गई। उनका विवेक जाता रहा और वे मृत्यु के द्वार पर पहुँच गये।

विदुरजी ! विनाशकाल से बुद्धि विपरीत बन जाती है। इसीलिये यादवों को अभिमान हो गया। यह सब हुआ प्रभु प्रेरणा से ही। धर्मराज को, समस्त भूमंडल का राजा बना दिया। उनसे तीन अश्वमेध कराये। वंश परम्परा चलाने को नष्ट हुए उत्तरा के गर्भ को ब्रह्मास्त्र से बचा कर महाराज परीक्षित् को जीवित किया और अब द्वारका में रह कर यादवों का अन्त होने की प्रतीक्षा करने लगे।"

छप्पय

हरि सोचें भूभार न उतरयो सबरो अबई।
यदुकुल को संहार होय उतरैगो तबई॥
बहुत बढ़यो यदुवंश अंश मेरे हैं सब ये।
मदमाते ह्वै लड़ें परस्पर नसिहैं तब ये॥
प्रेम प्रदर्शित करयो बहु, पुनि मरवाये बन्धु सब।
भार उतारयो अवनि को, गवने हरि गोलोक तब॥

यदुवंश विनाश

(१०६)

पुर्यां कदाचित् क्रीडद्भिर्यदुभोजकुमारकैः ।
कोपिता मुनयः शेपुर्भगवन्मतकोविदाः ॥ॐ
(श्री भा० ३ स्क० ३ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

जाते जब जे श्याम करावें जहँ जो जैसे ।
सो तब तुरतहि तहाँ करे प्रेरित ह्वै तैसे ॥
यदुकुल को संहार करन चित महँ जब आयो ।
तबई तपते पूत मुनिनि तें शाप दिवायो ॥
ज्यों बाजीगर बानरहिँ, जस नचाव नाचे तसहिँ ।
त्योंई ईस अधीन है, जीव नचे यह स्ववशनहिँ ॥

वर्षा का जल कहीं भी गिरे, एक दिन उसे समुद्र में अवश्य ही पहुँचना है । गाँव से बहकर वह तालाब में जायगा। तालाब से नदी में, नदी महानदी में और महानदी

ॐउद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी ! एक बार यदुवंशियों और भोज वंशियों के बालक खेल रहे थे । खेलते-खेलते उन्होंने अपने अशिष्ट व्यवहार से मुनियों को क्रुद्ध कर दिया । मुनि गण तो भगवान् के भाव का जानने ही वाले थे कि, आप इनका विनाश करना चाहते हैं, अतः उन्होंने सम्पूर्ण वंश के नाश का शाप दे दिया ।

से समुद्र में। यदि वहीं कहीं सूख जायगा तो वाष्प बन कर फिर सूर्य्य खींच लेंगे, फिर मेघ बनेगा, फिर बरसेगा। कोई जल तो सीधा समुद्र में गिरता है, वह तुरन्त उसी में मिल जाता है। कोई महानदी में गिरता है, उसे कुछ देर लगती है। क्षुद्र नदी में गिरने वाले को अधिक देर लगती है। मरु देश में गिरने वाले को समुद्र में पहुँचने में बहुत देर लगती है। देर सवेर कैसे भी हो, पहुँचना सभी को समुद्र में है। इसी प्रकार भगवान् से पृथक हुए इन समस्त जीवों की एक दिन अवश्य मुक्ति होनी है। कोई शीघ्र मुक्त होंगे कोई देर से। भगवान् को कब किस पर कृपा होती है, उसे कोई भी जीव जान नहीं सकता। किस कार्य से वे कृपानाथ रीझ जाते हैं? इसे कोई कह नहीं सकता। उन्हें कोई तो पाकर भी भूल जाता है, कोई एक बार दर्शन पाते ही मुक्त हो जाता है। गज तो जीवन भर भूला रहा, मरते समय उसने 'हरि' कह कर पुकारा—मुक्त हो गया। गृद्ध ने तो जीवन भर अमेध्य भक्षण किया, हिंसा की, किन्तु नयनाभिराम दूर्वादलश्याम के अंक में सिर रख कर उसने प्राणों का विसर्जन किया। इसके विपरीत भगवान् की सोलह हजार रानियाँ तो सर्वदा उनकी सेवा में ही रहीं। वे श्यामसुन्दर की मधुर मुसकान, स्नेह भरी चितवन नित्य निहारतीं, अमृत में बोरी हुई मधुमय सुखद सरस वाणी को सुनतीं। उनके अनुपम शोभा सम्पन्न श्री अंग की सदा सेवा करतीं। अनुराग और उत्कण्ठा के सहित भगवान् मरीचि माली के अस्त होने तथा अपनी प्रिय सखी निशा के आगमन की प्रतीक्षा करतीं, जिसके आगमन से उन्हें अपने प्राणवल्लभ के संयोग सुख का अवसर प्राप्त होता था। वे लोकाभिराम, कोटि कन्दर्प शोभायुक्त श्रीघनश्याम उनका आदर भी अत्यधिक करते

थे। उन्हें सभी सुख देते, उनकी सभी इच्छाओं की पूर्ति करते, किन्तु अन्त में वे ही जंगली आभीरों के हाथों लूटी गईं। विश्वात्मा की भोग्या होने पर भी उन्हें आभीरों की भोग्या बनना पड़ा। गोपियों का भी आकर्षण पहिले-पहिले ऐसे ही हुआ था, किन्तु उन्होंने उनके स्वरूप को पहिचान लिया। ये इसी अभिमान में डूबी रहीं—ये हमारे अधीन हैं, इन्हें जैसा नाच नचावेंगी वैसा नाचेंगे। ये हमारे पति हैं। उन्हें वही सुख मिला। यादवों ने उन्हें सम्बन्धी ही समझा, उनके यथार्थ रूप को वे न जान सके, अतः वे परम लाभ से वंचित ही रहे।

उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी! यद्यपि भगवान् द्वारावती में रह कर लोक और वेद सम्बन्धी व्यवहारों का अनुसरण अवश्य करते थे। समस्त संसारी विषयों का उपभोग भी करते थे; किन्तु वे स्वात्माराम होने के कारण कभी उनमें आसक्त नहीं हुए। बहुत वर्षों तक दिव्य-दिव्य भागों को भोगते रहे, रानियों को सुख देते रहे, लडके लड़कियों के साथ खेलते रहे, गृहस्थियों का व्यवहार करत रहे। उपनयन, मुंडन, कर्णवेधन आदि-आदि संस्कार करते, लड़के लड़कियों का विवाह करते, उन्हें विदा करते, विदा कराके लाते, यह सब करते हुए आपको अंत में इन कार्यों से विराग हो गया।

क्या कभी श्रीहरि को राग भी था? बिना राग के विराग कैसा? आप यह प्रश्न करेंगे। सो विदुरजी! मैं एक उपचार से कह रहा हूँ। उन्हें क्या विराग होना था? अब वे अपने धाम को जाने के लिये उद्यत होने लगे। विषयी लोगों को शिक्षा देने के लिये उदासीनता ग्रहण कर ली; कि जब हम सर्वस्वतन्त्र

ईश्वर होकर भी विषयों को अंत में त्याज्य ही समझते हैं, तो जो दैवाधीन हैं और दैववश से ही जिन्हें भोग प्राप्त हुए हैं, उनको तो कभी विषयासक्त होना न चाहिये।

अपने द्वारा लगाये विषवृक्ष को भी बुद्धिमान् पुरुष नहीं काटते। सर्प, बिच्छू जैसे दूसरों को दुःख देने वाले विषैले जीवों को दयालु पुरुष स्वतः नहीं मारते। इसी प्रकार अपने ही अंश से उत्पन्न होने वाले यादवों का नाश श्रीहरि ने अपने हाथ से करना उचित नहीं समझा। मुनियों को निमित्त बनाकर दो चार बच्चों की धृष्टता से समस्त यदुवंश के नाश का शाप दिला दिया। यादवों ने बहुत चेष्टा की, कि मुनियों का शाप अन्यथा हो जाय; किन्तु मुनियों ने स्वतः तो शाप दिया नहीं था। वे तो भगवान् के भावों को जानने वाले थे, उनके यन्त्र थे। वे उन्हें जैसे घुमाते थे, घूमते थे, जो कराते थे करते थे श्रीहरि ने ही उनके हृदय में प्रवेश करके ऐसी प्रेरणा की थी। यादव निश्चिंत थे कि हमने शाप के हटाने का अमोघ उपाय कर लिया है। इसलिये वे प्रमत्त होकर विहार कर रहे थे, किन्तु काल अप्रमत्त भाव से भगवान् का संकेत पाकर चुपचाप उन सबको ग्रसने के लिये खड़ा था। उसकी उँगलियाँ तेजी से चल रही थीं। वह समय की गणना कर रहा था। मालूम ऐसा होता था, कि अब इसकी गणना समाप्त होने वाली है। अंतिम पोरुए पर अँगूठा पहुँचने में कुछ ही देरी थी, कि भगवान् की आज्ञा से सभी यादव प्रभास क्षेत्र को तीर्थ यात्रा और पुण्य करने गये। वहाँ जाकर सबने स्नान किया। गो, घोड़ा, रथ, हाथी, सोना, चांदी, वस्त्र, आभूषण, बाघम्बर, पीताम्बर, ऊनी रेशमी वस्त्र, मृगचर्म, कम्बल, पृथ्वी, दूध, दही, घृत, मधु, कन्या, पृथ्वी तथा और भी श्रेष्ठ-श्रेष्ठ वस्तुओं

के विधि पूर्वक वेदज्ञ ब्राह्मणों को दान दिये। सबको सन्तुष्ट किया। दान देकर कृष्णार्पण करके संकल्प किया। देवता पितर और ऋषियों का तर्पण किया। सबको भोजन कराया, दक्षिणा दी, ताम्बूल दिये और श्रद्धासहित सभी ब्राह्मणों को देवताओं को और गौओं को प्रणाम किया।

यह सब करने के पश्चात् उन्होंने ब्राह्मणों से पूछा—"महाराज, हम लोग भी अब प्रसाद पावें ?" सब प्रकार से सन्तुष्ट हुए उन ब्राह्मणों ने प्रसन्नमन से उल्लास के साथ कहा—"हाँ, अब आप सब बड़े आनन्द और उल्लास के साथ प्रसाद पावें ?"

सभी यादव भाई थे, सभी एक वंश के थे। बड़े आनन्द से वे सब साथ ही प्रसाद पाने बैठे। विदुरजी ! उनको पता नहीं था—यह हमारा आज अन्तिम प्रसाद है। कालदेव की हिलती हुई उँगलियाँ बन्द हो गईं। उनकी गणना पूरी हो गई। भगवान् चुपचाप बैठे उनकी ओर देख रहे थे। भोजन के बीच में ही बोले—"थोड़ी वारुणी भी चढ़ा लो, यहाँ तीर्थ में।' किसी ने कहा—"अरे, तीर्थ में यह सब गड़बड़ मत करो।" दूसरे ने कहा—"वाह जी, आनन्द तो यहीं आवेगा।" फिर क्या था, छनने लगी वारुणी, प्याले पर प्याले उड़ने लगे। आँखों में अरुणिमा दौड़ने लगी। पीने में लोभ बढ़ने लगा। आपस में होड़ लगा कर—कौन अधिक पीता है ? यह खेल आरम्भ हुआ। मूर्तिमती वारुणी ने अपना अधिकार जमा लिया। सबका विवेक नष्ट हो गया, बुद्धि भष्ट हो गई। एक दूसरे को बुरा-भला कहने लगे। अकारण कोई किसी पर कीच उछालने लगा। मामला बढ़ गया। अब तो वे आपस में

लड़ने लगे। जैसे एक ही साथ उत्पन्न हुए बाँस परस्पर में रगड़ लगने से अपने आप ही अग्नि उत्पन्न करके भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार यादव कलह रूपी अग्नि उत्पन्न करके नष्ट हो गये। सूर्यास्त होते होते सभी का संहार हो गया। भगवान् की रची हुई नाट्यस्थली का यह अन्तिम जवनिका का पर्दा अत्यन्त करुण था। यह सबसे अन्त का दृश्य बहुत ही करुणापूर्ण खेला गया। सबके संहार हो जाने पर भगवान् स्वस्थ चित्त से समुद्र तट पर एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठ गये। वे भी स्वधाम पधारने का विचार कर रहे थे कि इतने में ही मैं वहाँ जा पहुँचा।

विदुरजी ने पूछा—"उद्धवजी! आप वहाँ कहाँ से पहुँच गये? क्या आप प्रभास की यात्रा में भगवान् के साथ नहीं थे? आपको छोड़कर तो श्यामसुन्दर कहीं भी नहीं जाते, फिर आपको उस यात्रा में वे साथ क्यों नहीं ले गये? क्या आपने यादवों के विनाश का यह दृश्य अपनी आँखों से नहीं देखा था? आप उनके युद्ध में सम्मिलित नहीं हुए थे?"

विदुरजी के प्रश्नों को सुन कर उद्धवजी कहने लगे—"महाभाग! जिस समय भगवान् द्वारावती में ही रह कर अपने समस्त कुल के संहार की बात सोच रहे थे, उसी समय भगवान् ने मुझे एक दिन एकान्त में बुला कर मुझसे कहा—"उद्धव! अब मैं अपनी लीला संवरण करना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ तुम अभी कुछ समय तक पृथ्वी पर और रहो।" मैंने तो कभी भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करना सीखा ही नहीं था। उन्होंने जैसे ही मुझे बदरीवन जाने की आज्ञा दी वैसे ही मैं उनके श्रीचरणों की वन्दना करके द्वारावती से

बाहर हुआ। किन्तु मेरे पैर आगे पड़ते ही नहीं थे। हृदय इतना भर गया था, कि उसका बोझ मुझसे सम्हलता ही न था। मैं चलने का प्रयत्न करता; किन्तु चल नहीं सकता था। मैं आगे बढ़ने को पैर उठाता, किन्तु वे बरबस पीछे ही पड़ते। इसी दशा में न जाने मैं कहाँ-कहाँ चक्कर लगाता रहा। मैं बार-बार सोचता—मेरे स्वामी ने तो मुझे बदरिकाश्रम जाने की आज्ञा दी है। मुझे द्वारकापुरी का परित्याग करके विशालापुरी का ओर बढ़ना चाहिये, किन्तु कब से चल रहा हूँ, ये द्वारका के सुवर्ण के महल मेरी आँखों से ओझल हो नहीं होते, मालूम पड़ता है। मेरे साथ ही साथ यह द्वारावती भी बदरिकाश्रम की ओर चल रही है।

इतने में ही मैंने क्या देखा, कि भगवान् अपने दिव्य रथ पर विराजमान हुए प्रभास की ओर जा रहे हैं। दारुक सारथि रथ हाँक रहा है। मैंने भगवान् के दर्शन किये हैं। यह कैसे कहूँ कि भगवान् ने मुझे नहीं देखा। वे तो सदा सर्वदा सब देखते रहते हैं। उनकी दृष्टि से तो कोई पृथक् हो ही नहीं सकता। फिर भी उस समय भगवान् अनजान से बने रहे। मैं एक वृक्ष की ओट से सब देखता रहा। रथ आगे बढ़ गया। पैर अपने आप ही उसी ओर बढ़ गये। जब मैं प्रभास पहुँचा था, तब समस्त यादवों का संहार हो चुका था। मेरे दुःख का ठिकाना नहीं रहा। मैं इधर उधर पागलों की तरह भटकता हुआ उच्च स्वर से रुदन करने लगा। मैंने सोचा—इस महायुद्ध में ही श्रीश्यामसुन्दर ने अपने मानवीय शरीर का परित्याग कर दिया। मैं सर्वस्व गँवाये व्यापारी की भाँति, जल से पृथक् की हुई मछली की भाँति, मणि छिने सर्प की भाँति बिलबिलाता हुआ तड़पने लगा। मुझे चारों ओर अन्धकार ही

अन्धकार दिखाई देता। सभी यादव मरे पड़े थे। प्रद्युम्न, शाम्ब, गद, सारण, अनिरुद्ध जिन्हें देखता वे ही निर्जीव हुए पृथ्वी पर पड़े थे। किसी का सिर कट गया था, किसी का हृदय फट गया था, कोई एक दूसरे से सट गया था, किसी का धड़ सिर से टूट गया था। मेरी दृष्टि तो श्यामसुन्दर के श्रीअङ्ग में अटकी थी उन अनन्त निर्जीव शरीरों में मैं अपने प्राण धन के श्रीविग्रह को खोज रहा था। किन्तु अत्यन्त खोजने पर भी मुझे भगवान् का त्रैलोक्य मोहन वह विश्व-वन्दित वपु दिखाई न दिया मैं ढाह मार कर रोने लगा और मूर्छित होकर वहीं गिर पड़ा।"

श्रीशुक कहते हैं—"महाराज, इस प्रकार परम भागवत उद्धवजी कृष्ण वियोग की बातें कहते-कहते, उसी घटना के स्मरण आने से सचमुच मूर्छित हो गये। उनका वाह्य-ज्ञान लुप्त हो गया।

छप्पय

द्वारावति महँ कृष्ण दरस हित मुनि गन आये।
करयो हास परिहास कुमारनि बहुत खिजाये॥
कुपित तपोधन भये शाप कुल भरि कूँ दीन्हों।
सुन्यो श्याम सब शाप समर्थन हँसि कें कीन्हों॥
सब मिलि गये प्रभास महँ, भयो परस्पर युद्ध अति।
वंश अग्नि फलितें जरे, हरि प्रेरित अस भई मति॥

श्रीभगवान् द्वारा उद्धवजी को उपदेश

[११७]

पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये,
पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासम्,
यत्सूरयो भागवतं[1] वदन्ति ॥
(श्री भा० ३ स्क० ४ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

मोतें हरि ने कही जाहु बदरीवन ऊधो।
किन्तु दैवगति समुझि चल्यो हरि पाछे सूधो॥
यदुकुल को संहार करयो हरि पीपर तरुतर।
बैठे, हौं ढिंग गयो विहँसि बोले श्रीयदुबर॥
भले मिले उद्धव सखे! आये तुम हो विमल मति।
कहूँ भागवत सरस अति, सुने पढ़े होवे सुगति॥

कभी-कभी गुरुजन अपने कर्तव्यवश वात्सल्य भाव से हमें ऐसी आज्ञा दे देते हैं, जिससे हमें उनके श्री चरणों से पृथक् रहना पड़ता है। उस उचित अनुचित आज्ञा का पालन

---

१ उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी! जब मैं भगवान् के समीप पहुँचा तो उन्होंने मुझसे कहा—उद्धव! मैं तुमको उस परम ज्ञान का

करना छोटों के लिये कर्तव्य ही है; किन्तु स्नेह वश विवश होकर, कभी हम उसका उल्लंघन भी कर देते हैं, गुरुजन हम पर कृपा ही करते हैं, हमारे आज्ञा-उल्लंघन के उस अपराध की वे अवहेलना कर जाते हैं। जब यदुकुल के संहार का समय समीप आया तो श्यामसुन्दर ने अपने सचिव, सखा, स्नेही, सुहृद् श्रीउद्धवजी को आज्ञा दी कि अब इस कुल का नाश होने वाला है। तुम सब कुछ छोड़ कर मेरी आज्ञा से बदरिकाश्रम चले जाओ। वहीं मेरा ध्यान करना, तप करना, मेरे दर्शन तुम्हें वहीं हृदय में हुआ करेंगे। भगवान् की आज्ञा कैसे टाली जाती? उद्धवजी उस समय तो चल दिये, किन्तु उनके पैर आगे नहीं पड़ते थे। भगवान् जब यादवों को लेकर प्रभास पधारे, तब अलक्षित भाव से उद्धवजी भी उनके पीछे-पीछे गये। यादवों का संहार हो चुका था। वे भगवान् को खोजने लगे। इसी प्रसंग को उद्धवजी अपने बाल्यसखा श्रीविदुरजी से बता रहे हैं।

उद्धवजी कहने लगे—"विदुरजी! मैं जब उन मृतक पुरुषों मे अपने आराध्यदेव के चिन्मय श्रीविग्रह को नहीं देखा, तो मैं रोता-रोता सरस्वती के किनारे-किनारे चला। दूर से मुझे तुलसी मंजरी की भीनी-भीनी सुगन्धि आई। मेरे हृदय में आनन्द की हिलोरें उठने लगीं। मैं समझ गया यह भगवान्

उपदेश करता हूँ जिसे मैंने पहिले पाद्मकल्प के आदि में अपने नाभि कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी को अपनी महिमा को प्रकाशित करने वाले श्रेष्ठज्ञान का उपदेश किया था। जिसे बुद्धिमान पुरुष 'भागवत' कहकर पुकारते हैं।"

के उसी वनमाला की गन्ध है, जो हमें नित्य प्रसाद में मिलती थी, जिसे अपने कंठ में पहिन कर हम अपने को धन्य समझते थे। मेरे इष्टदेव यहीं कहीं समीप में ही विराजमान हैं। चारों ओर मैंने दृष्टि दौड़ाई। दूर पर एक सघन अश्वत्थ वृक्ष के नीचे फहराता हुआ पीताम्बर और एक नील मणि की आभा सी दिखाई दी। मेरे हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। मैं उसी ओर बिना विचारे बढ़ता गया! आगे क्या देखता हूँ, समस्त शोभा के धाम, श्रीनिवास, आश्रय शून्य, मेरे प्रियतम प्रभु एक पीपल वृक्ष के सहारे सरस्वती के तट पर शान्त भाव से विराजमान हैं। अहा! उस समय उनकी शोभा कितनी कमनीय थी! कैसी मोहक मुद्रा से वे विराजमान थे। सजल जलद के समान, हरी-हरी नित्य पानी पाने वाली दूर्वा के समान, नील कमल के समान, मयूर के कंठ के समान, अलसी के पुष्प के समान, नील वर्ण का उनका श्रीविग्रह था। तीनों गुणों से परे जो विशुद्ध सत्व हैं उसमें वे स्थित थे। सदा ही वे गुणों से परे रहते थे। उस समय वे तुरीयावस्था का आश्रय लिये थे। कमल के समान सुन्दर अधखुले अरुण वर्ण के उनके नयनद्वय चन्द्रमा की किरणों के समान शीतलता की वर्षा कर उस प्रदेश को सुखमय, शान्तिमय बना रहे थे। उस समय उन्होंने चार भुजायें धारण कर रखीं थीं, जिसमें मूर्तिमान शंख, चक्र, गदा और पद्म प्रत्यक्ष सशरीर हाथ जोड़े विराजमान थे। उनके श्रीअंग पर पीत वर्ण का रेशमी पीताम्बर उसी प्रकार चमक रहा था, जिस प्रकार श्रावण भादों में जल भरे मेघों में बिजली चमक रही हो। अश्वत्थ के छोटे से वृक्ष के सहारे पीठ लगाये वे आधे लेटे और बैठे थे। अपनी सुन्दर सुडौल और केले के स्तम्भ के समान बाईं जँघा पर अपना सुन्दर श्रीचरण

कमल रखे हुए थे। आत्मानन्द में परिपूर्ण हुए वे संसार से उदासीन हो रहे थे।

मैंने देखा एक परम विरक्त संत कहीं से विचरते हुए उनके समीप आ गये। ध्यान से मैंने देखा—हैं! अरे, ये तो भगवान व्यासदेव के सुहृद् परमज्ञानी मेरे पूर्व परिचित भगवान् मैत्रेयजी हैं। मैंने भूमि में लेट कर पहले श्रीभगवान को फिर मुनि श्रेष्ठ मैत्रेयजी को प्रणाम किया। मैं डर रहा था—प्रभु मुझसे रुष्ट न हों, कि तुझे तो हमने बदरिकाश्रम भेजा था, तू यहाँ क्यों चला आया? किन्तु यह मेरा भ्रम ही निकला। प्रभु मुझे देखते ही खिल उठे और अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"उद्धव! तुम भले आये, भले आये। मैं तुम्हारा ही ध्यान कर रहा था! मैं अब इस मर्त्य-लोक का परित्याग करने वाला था। मैं सोच रहा था अपना अन्तिम सन्देश किससे कहूँ? उद्धवजी ही इसके एकमात्र अधिकारी हैं। वे यदि आ जाते तो मैं संसार के लिये अपना चलते समय का सन्देश दे जाता, किन्तु उनको तो मैंने बदरिकाश्रम भेजा है। सो, तुम ठीक समय पर आ गये।'

भगवान् की इतनी कृपा के बोझ से मैं दबा सा जा रहा था। प्रभु अपने सेवकों का कितना ध्यान रखते हैं? कितनी कृपा करते हैं वे अपने अकिंचन किंकरों पर? मैंने पुनः भूमि में लेट कर साष्टांग प्रणाम किया। तब भगवान् सम्मुख ही विनय से सिर झुकाये, सम्मुख हाथ जोड़े खड़े हुये अपने में अनुरक्त चित्त महामुनि मैत्रेयजी को सुनाते हुए मुझसे बोले। उस समय भगवान् की चितवन मन्द-मन्द मुसकान से युक्त थी, अत्यन्त ही स्नेह से मेरी ओर देखते हुए मुझसे कहने

लगे—'उद्धव ! तुम्हारा मैं अभिप्राय समझ गया हूँ। तुम मेरे कहने पर अभी तक मेरे स्नेहवश बदरिकाश्रम नहीं गये, यह मुझे मालूम है। इसमें भी तुम मेरी प्रेरणा ही समझो।'

मैंने हाथ जोड़ कर विनीत भाव से कहा—'प्रभो ! मैं आपके चरणों के बिना रह नहीं सकता। मेरे मन मधुप के लिये वे ही नीचे अरुण ऊपर से नील, ये दो पाद-पद्म ही रस के आलय और निवास के निकेत हैं। मैंने अपने स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन किया, अपराधी होने पर भी मुझे अन्यत्र आश्रय ही नहीं है। इन चरणों को छोड़कर मैं कहीं जाना भी चाहूँ तो नहीं जा सकता !'

भगवान् मन्द-मन्द मुस्कराते हुए बोले—'उद्धवजी ! तुम अपने को भूल गये क्या ? तुम साधारण जीव नहीं हो ! पूर्वकाल में तुम आठ वसुओं में से एक वसु थे। एक बार सृष्टि को बढ़ाने वाले सभी प्रजापतियों ने तथा वसुओं ने मिलकर एक बड़ा भारी यज्ञ किया था। उसमें अन्य वसुओं ने तथा प्रजापतियों ने अपनी कामना के अनुसार वर माँगे। जब मैं तुम्हारे सामने प्रकट हुआ, तो तुमने उस समय मुझसे यही वरदान माँगा था, कि 'मुझे आपका सान्निध्य प्राप्त हो और आपकी महा महिमा को प्रकाशित करने वाला सर्वश्रेष्ठ ज्ञान मुझे प्राप्त हो और आपके चरणों में मेरी निरन्तर अहैतुकी भक्ति बनी रहे।' उसी के फल स्वरूप तुम्हें मेरी कृपा से मेरा सान्निध्य और मुझमें ऐसी प्रगाढ़ भक्ति प्राप्त हुई है। अब मैं तुम्हें अपनी प्राप्ति का साधन स्वरूप ज्ञान देता हूँ। यह बहुत ही गोपनीय और रहस्य का विषय है। अन्य जीवों के लिये यह ज्ञान अत्यन्त ही दुष्प्राप्य है।'

मैंने कहा—'प्रभो! मुझे ज्ञान-ध्यान नहीं चाहिये। मैं तो निरन्तर आपके चरणों के समीप ही रहना चाहता हूँ। यही मेरा जप, तप, साधन, है।'

भगवान् बोले—उद्धव! अब मैं इस नर-लोक को त्याग कर अपने स्वधाम को जाना चाहता हूँ। तुम अभी मेरी आज्ञा से लोक कल्याण के लिये—मेरे बताये ज्ञान के प्रचार और प्रसार के लिये—पृथ्वी पर कुछ दिन और रहो। तुम घबड़ाओ मत, अब तुम्हें संसार बन्धन न होगा। अब तुम फिर चौरासी के चक्कर में न फँसोगे। यह तुम्हारा अन्तिम जन्म है। इस शरीर को त्याग कर कर्म बन्धनों से बँध कर, अब तुम्हें पुनः संसार में न आना पड़ेगा। यह भाग्य की बात है, जो एकान्त में स्वधाम पधारते समय तुमने मेरा दर्शन किया। अब मैं तुम्हें उस भागवत तत्व का उपदेश करूँगा, जिसका उपदेश पाद्मकल्प के आदि में मैंने ब्रह्माजी को किया था। इस को लोग 'भागवत तत्व' कहते हैं। जिस तत्व के श्रवण मनन से जीव संसार बन्धन से सदा के लिये छूट जाता है और भगवान के नित्य धाम का अधिकारी बन जाता है।'

अहा! मैं कितना भाग्यशाली हूँ, भगवान् मुझ दास पर इतनी कृपा रखते हैं। मैं भगवान् का इतना स्नेह भाजन बन सकूँगा; विदुरजी! इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान नहीं था यद्यपि प्रभु मेरे ऊपर अतिशय कृपा रखते थे, मुझे अपना उच्छिष्ट प्रसादी अन्न, पहिने हुए प्रसादि वस्त्र, मालायें प्रदान करते थे। किन्तु अन्तिम समय मुझे वे अपने गूढ़ रहस्य के ज्ञान का अधिकारी समझें, ऐसा मुझे अनुमान भी नहीं

था। इस कृपा को स्मरण करते ही मेरे सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हो गया। नेत्रों से झर-झर अश्रु वहने लगे मेरी वाणी रुक गई थी। अपने को प्रयत्न पूर्वक सम्हाल कर हाथ जोड़ कर मैंने निवेदन किया—"प्रभो ! जिसने आपके चरण कमलों का आश्रय ग्रहण कर लिया है, उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों में से कौन-सी वस्तु दुर्लभ है। ये सब तो किंकरों को विना माँगे मिल जाती हैं।'

यह सुनकर भगवान हँसे और वोले—'उद्धव ! तुम इन चारों को मुझसे माँग लो। मैं मोक्ष तक तुम्हें दे सकता हूँ।'

तब मैंने शीघ्रता से कहा—'न, प्रभो ! मुझे मोक्ष नहीं चाहिये। मुझे तो आप अपने चरण कमलों की भक्ति प्रदान कीजिये। मैं तो उसी के लिये निरन्तर उत्कंठित वना रहता हूँ। जिन्हें वन्धन से छूटने की इच्छा हो, उन्हे आप मोक्ष दें हम तो सदा आपके चरण कमल के वन्धन में वंधे रहना चाहते हैं। जब आपके चरणों से वंध जायँगे, तो संसार से तो स्वतः ही अलग हो जायँगे।'

भगवान् वोले—'भाई हम भी तो कर्मों मे फंसे हैं ?'

मैंने विनीत भाव से कहा—'आप फंसे हों या न फंसे हों किन्तु हम तो आपके सेवा रूपी कर्म में सदा फंसे ही रहना चाहते हैं आप जैसे फंसे हैं, वह तो मैं सब जानता हूँ। अजन्मा होकर भी आपका जन्मा लेना, निरीह होकर भी कर्म करना, स्वयं डर को भी डरानेवाले काल स्वरूप होकर भी शत्रु से डर कर रण छोड़ कर भागना, समुद्र के वीच में छिप कर किला बनाकर निडर होकर भी डरते की भाँति रहना, सदा आत्मा में ही रमण करने वाले होकर हजारों स्त्रियों के साथ रमण करना—ये सब आपकी विचित्रलीलायें हैं। इन्हें देखकर अज्ञानी

भले ही आपके यथार्थ रूप को भूल जायँ, किन्तु हम आपके दास तो सदा आपके मायातीत रूप को ही हृदय में धारण किये रहते हैं।

आपने मेरे ऊपर अनुग्रह करके मुझे अपना सम्मति दाता मन्त्री बनाया था। जब कोई ऐसा कार्य आता, तो आप अबोध बालक की भांति बड़ी सरलता से गम्भीर होकर चिन्ता प्रकट करते हुए, मुझसे सम्मति पूछते और बार-बार कहते—'उद्धव! भाई, यह विषय तो बड़ा उलझन का है। इसे तुम ही सुलझा सकते हो। तुम ही उचित सम्मति दे सकते हो।" आपकी वे बातें नर लीला के अनुरूप थीं। उनका अब स्मरण करता हूँ, तो मेरा मन मोहित हो जाता है। आपकी क्रीड़ाओं में कितना कुतूहल और प्रेम भरा रहता था।'

भगवान् मेरी बात सुनकर मुस्कराये और बोले—'बुद्धिमान् उद्धवजी! अब आप क्या चाहते हैं?'

मैंने कहा—'प्रभो! यदि मैं अधिकारी होऊँ तो कृपा करके वही भागवत ज्ञान मुझे दें जो पूर्वकाल में आपने पद्मयोनि, वेदगर्भ, लोक पितमह, चतुरानन ब्रह्मदेव को दिया था।'

विदुरजी ने पूछा—'उद्धवजी! फिर क्या हुआ? भगवान् ने आपको उस गुह्यातिगुह्य ज्ञान—भागवत तत्व—का उपदेश किया?'

उद्धवजी बोले—'हाँ, जब मैंने इस प्रकार विनीत होकर प्रार्थना की, तब ब्रह्मादिक देवताओं से भी जिनके चरण कमल वंदनीय हैं, उन परब्रह्म कमल नयन भगवान वासुदेव ने अपनी परमस्थिति का मुझे उपदेश किया। उसे सुनकर मैं कृतार्थ हो गया और उन्हीं परम गुरु स्वरूप श्रीहरि की आज्ञा

पाकर उनकी परिक्रमा करके मैं यहाँ चला आया। महाभाग विदुरजी! आप सर्व समर्थ हैं, आप सौभाग्यशाली हैं। अब आपसे और श्रीकृष्ण-कथा क्या कहूँ? श्रीकृष्ण-कथा अनन्त है। शेषनाग भी अपनी दो सहस्र जिह्वाओं से निरन्तर कहते रहने पर भी वर्णन नहीं कर सकते। अब मैं प्रभु के दर्शन से आनन्दित होकर भागवत तत्व के श्रवण से कृतार्थ होकर और भगवान् के वियोग रूपी दुःख से दुखी होकर उन्हीं के परम प्रिय क्षेत्र श्रीबदरिकाश्रम—विशालापुरी को जा रहा हूँ। जहाँ पर भगवान् नर और नारायण ये दो विग्रह बना कर लोक कल्याण के निमित्त शान्त और उपद्रव रहित दुस्तर घोर तप कर रहे हैं। भगवान् के वियोग में मेरी पागलों की सी दशा हो गई है। अब मुझे संसार में कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अब तो मैं केवल भगवद् आज्ञा के पालन के ही निमित्त बदरिकाश्रम जा रहा हूँ।"

श्रीशुकजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहते-कहते उद्धवजी भगवान् के ध्यान में पुनः मग्न हो गये।

छप्पय

भूखे कूँ ज्यों खीरि पियासित कूँ ज्यों पानी।
त्यों अतिशय प्रिय लगी मधुर श्रीहरि की वानी।
विनय करी हे प्रभो! भक्ति को तत्व बतावें।
शुद्ध भागवत ज्ञान दान करि दुःख मिटावें॥
कमल नयन विनती सुनी, परम तत्व मोतें कह्यो।
आयसु सिर धरि वन्दि पद, बदरीवन कूँ चलि दयो॥

विदुरजी से विदा लेकर वद्रीवन गमन

(११८)

इति सह विदुरेण विश्वमूर्ते-
गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः ।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्ताम् ,
समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० ४ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

सुधो आयो यहाँ आपुने दर्शन दीन्हें ।
शोक मोह संताप कृपा करि सब हरि लीन्हे ॥
विदुर कहें—'हे सखे! कृपा हमहू पै कीजे ।
हरितें पायो ज्ञान ताहि हमहूँ कूँ दीजे ॥
उद्धव बोले विदुरजी ! बड़भागी हैं आपु अति ।
जिनकूँ हरि सुमिरन करें, अन्त समय महँ अखिलपति ॥

यह मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, कि एक स्वामी के कई सेवक या कृपापात्र हों और उनमें से किसी एक पर स्वामी विशेष कृपा करें, तो दूसरों के मन में डाह होता है। इन

*श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कहते हैं—'राजन्! उद्धवजी को जो भगवत् वियोग से मानसिक संताप हो गया था, वह

पर इतनी कृपा क्यों हुई ? हम इस कृपा के पात्र क्यों नहीं समझे गये ? सौतियाडाह सनातन से चला आया है, सृष्टि के अन्त तक रहेगा। इसे सम्पूर्ण रूप से कोई मिटा नहीं सकता। संसारी लोगों में जैसा डाह होता है, वैसा ही भगवान् के भक्तों में भी होता है। अपने से श्रेष्ठ भक्त की प्रेम दशा देखकर उनकी एक निष्ठा, तन्मयता तथा प्रथम प्रेम की अवस्थायें देख कर, भक्त सोचता है—हाय ! मेरी ऐसी दशा कब होगी ? मै कब इस प्रकार प्रेम में पागल होकर, लोक लाज छोड़ कर, उन्मत्त होकर, स्नेह में नृत्य करने लगूँगा ? देखो, इन्हें भगवान् की कैसी कृपा प्राप्त हो चुकी है ? कृपा सागर ने इनके ऊपर कैसा अनुग्रह किया है ? इस प्रकार भक्त परस्पर में दूसरे भक्तों की दशा देख कर प्रेम पूर्वक ईर्ष्या करते हैं और अपने को धिक्कारते हैं। संसारी लोग ईर्ष्या वश द्वेष और कलह करते हैं, किन्तु भगवन भक्तों की ईर्ष्या प्रेम को बढ़ाने वाली होती है। भगवान् को निमित्त बना कर जो कर्म किया जायगा, उसका फल अनन्त होगा, क्योंकि वे स्वयं अनन्त हैं। कारण का गुण कार्य में आता ही है।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! जब उद्धवजी के मुख से महाभागवत विदुरजी ने यह वंश विनाशकी वार्ता सुनी, तो उन्हें दुःख तो हुआ, किन्तु अपने बढ़े हुए विवेक के द्वारा उन्होंने अपने असह्य बन्धु वियोग

विदुरजी के साथ विश्वमूर्ति भगवान् वासुदेव के गुण-कथन-रूपी सुधा के द्वारा शान्त हो गया। भगवच्चर्चा करते-करते यमुनाजी के किनारे दोनों ने यह रात्रि क्षण के समान बिताई। प्रातःकाल होते ही उद्धवजी वहाँ से चल दिये।

जनित शोक को शान्त कर लिया। उन्होंने संसार को असार समझकर इसे अवश्यम्भावी भगवान् का एक विनोद ही समझा। श्यामसुन्दर जिससे जब जो कराना चाहते हैं, तब वह वही करने को विवश हो जाता है। इसमें न यादवों का दोष, न शाप देने वाले ब्राह्मणों का दोष। यदुकुल संहार की बात तो उन्होंने भुला दी। अब उनके मन में एक बात बार-बार उठ रही थी। देखो, ये उद्धवजी कितने भाग्यशाली हैं। भगवान् के समस्त बन्धु बान्धव मित्र तथा सुहृदों में ये सर्व श्रेष्ठ हैं, महाभागवत हैं, भक्ताग्रगण्य हैं। अन्तिम समय में भगवान् ने इन्हें ही अपनी कृपा का पात्र समझा। ये जो कुछ कह रहे हैं, बना कर थोड़े ही कह रहे हैं। ये तो परम विश्वसनीय हैं। एक शब्द भी ये असत्य अपने मुख से उच्चारण नहीं कर सकते। आह! इनके भाग्य की जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। अब ये बदरकाश्रम जा रहे हैं; सब कुछ छोड़ छाड़ कर तपस्या करने। जो बदरीवन जाते हैं, वे फिर कभी लौट कर थोड़े ही आते हैं। अब इनसे इस जीवन में भेंट काहे को होगी। इन्हें भगवद्दत्त गुह्यातिगुह्य भागवत ज्ञान प्राप्त हुआ है। सो भी किसी ऋषि मुनि से नहीं, स्वयं भगवान् वासुदेव ने आचार्य रूप से इन्हें उपदेश किया है। उस ज्ञान को मैं इनसे क्यों न प्राप्त करलूँ? क्यों न मैं इनका शिष्य बन जाऊँ? मेरे ऐसे भाग्य तो कहाँ थे, जो मैं स्वयं श्रीहरि के श्रीमुख से उस अमोघ ज्ञान को प्राप्त करता। न सही, इतनी कृपा के पात्र कोई अपने साधनों द्वारा तो बन नहीं सकते, जिन्हें वे ही वरण करें, वे ही जिस पर कृपा करें। इस प्रकार के परम्परागत ज्ञान को प्राप्त करके मेरा भी उद्धार हो जायगा। यही सब सोचकर विदुरजी उद्धवजी से कहने लगे।

विदुरजी बोले—उद्धवजी! श्रीभगवान् के द्वारा आपने उनके स्वरूप के गूढ़ रहस्य को समझने वाला जो गुह्यातिगुह्य परम ज्ञान प्राप्त किया है, उसकी दीक्षा कृपा करके हमको भी दीजिये। यदि आप हमें उसका अधिकारी समझते हों तो उस ज्ञान का उपदेश हमें भी दीजिये। यह कोई संसारी भोग्य सामग्री तो है नहीं, जिसे लोभवश संसारी लोग दूसरों को देने में हिचकते हैं। यह तो परमार्थ ज्ञान है। आप जैसे परम भागवत्, भगवत् भक्त अपने सेवकों का प्रयोजन सिद्ध करने के ही लिये पृथ्वी पर विचरण करते रहते हैं। अधिकारी देखकर वे गूढ़ से गूढ़ ज्ञान को भी प्रदान कर देते हैं। मैं आपका सेवक हूँ, आपमें अनुरक्त हूँ। आप के सदृश तो नहीं हाँ, भगवान् मेरे ऊपर भी यत्किञ्चित् कृपा करते थे। उसी नाते से मैं आप की कृपा का पात्र होने का अधिकारी हो सकता हूँ।"

इस प्रकार जब विदुरजी ने उद्धवजी से प्रार्थना की, तब अत्यन्त ही संकोच के साथ, गद्गद् कंठ से प्रेमाश्रु बहाते हुए उद्धवजी बोले—विदुरजी! आप कैसी बातें कर रहे हैं? अपने को क्या समझते हैं? आप इस प्रकार अपने को छोटा क्यों बता रहे हैं? मेरी तो धारणा है—संसार में आप से बढ़कर भाग्यशाली स्यात् ही कोई हो। भगवान् की आप पर जितनी कृपा है, उतनी किसी दूसरे भक्त पर भी है, इसे मैं नहीं जानता। यदि ऐसा न होता, तो हस्तिनापुर में राजभवन को छोड़ कर भगवान् आपके साधारण भवन में क्यों जाते? मान लिया दुर्योधन मानी था, भगवान् उसका आतिथ्य ग्रहण करना नहीं चाहते थे, तो और भी तो वहाँ उनके सम्बन्धी थे जो उनके भक्त थे। भीष्म पितामह के घर क्यों नहीं गये?

वे भी तो उनके अनन्य उपासक थे। द्रोणाचार्य के ही घर चले जाते, कृपाचार्य का ही आतिथ्य ग्रहण करते। इन सबको छोड़ कर वे केवल आपके ही घर क्यों पधारे? उस बात को जाने दीजिये। अन्तिम समय, स्वधाम पधारते समय भगवान् ने किसी का स्मरण नहीं किया। केवल आप का ही स्मरण किया।"

अहा, दीनबन्धु ने अन्तिम समय मेरा स्मरण किया! इतना सुनते ही विदुरजी के रोम-रोम खिल उठे। उनके नेत्रों से झर-झर प्रेमाश्रु बहने लगे। बड़ी ही उत्सुकता, अत्यन्त ही उल्लास के साथ चौंक कर विदुरजी बोले—"उद्धवजी! यह क्या कहा? क्या श्यामसुन्दर ने मेरा स्मरण किया था? सच-सच बताइये। शिष्टाचार से ऐसा न कहें। भगवान् ने क्या कहा था? किस प्रसंग में मेरा नाम लिया था? आपने ठीक-ठीक सुना था?

विदुरजी की ऐसी उत्कंठा, ऐसी संदिग्धता को सुनकर उद्धवजी मन ही मन सोचने लगे—देखो, भगवान् के भक्त कितने भोले, कितने निष्कपट, कितने अभिमान शून्य होते हैं? उन्हें कभी भान भी नहीं होता, कि हम भक्त हैं, हमारे हृदय में अनुराग है। विदुरजी पर भगवान का कितना ममत्व है, फिर भी ये इसी बात पर आश्चर्य कर रहे हैं, कि भगवान् ने मेरा नाम लिया था क्या? यह सोचकर ये हँसते हुए बोले—महाभाग! आप कैसी बातें कर रहे हैं? अजी, मैंने खूब सुना था! मैं सो नहीं रहा था, स्वप्न नहीं देख रहा था। एक बार आपका नाम ही नहीं लिया। आपके सम्बन्ध में तो भगवान ने बहुत सी बातें कहीं थीं।"

विदुरजी का हृदय भर रहा था। भरी हुई वाणी में उन्होंने पूछा—"किस प्रसंग में मेरा नाम लिया था ?"

उद्धवजी बोले—"बात यह थी भगवान् ने यह भागवत तत्त्व मुझे सुनाते हुए महामुनि मैत्रेयजी से कहा था। जब सम्पूर्ण भागवतसार का उपदेश भगवान् कर चुके तब उन्होंने मुनिवर से मेरे सम्मुख ही स्पष्ट शब्दों में कहा—'मुनिवर! आप इस ज्ञान का उपदेश मेरे परमभक्त विदुरजी को अवश्य करें। वे इसके सर्वथा अधिकारी हैं। वे गंगाद्वार में आपकी सेवा में आवेंगे, उस समय आप उन्हें यह सब सुनावें।' सो, विदुरजी! मैं तो उपदेश करने के अयोग्य हूँ। मैं आपको उपदेश कर ही क्या सकता हूँ। आप हरिद्वार में जा कर भगवान् श्रीमैत्रेयजी की श्रद्धा सहित सेवा करें। वे ही आपको इस ज्ञान का उपदेश करेंगे।"

उद्धवजी के मुख से यह बात सुनकर और भगवान् की भक्त-वत्सलता को स्मरण करके विदुरजी रोने लगे और बार बार अपने भाग्य की सराहना करने लगे। तब उद्धवजी बोले—"महाभागवत विदुरजी! आप अपने को इतना छोटा क्यों समझ रहे हैं? देखिये, आपकी भगवान् के चरित्रों में कितनी श्रद्धा है? आप तब से कितनी श्रद्धा के साथ शान्त चित्त से श्रवण कर रहे हैं। देव? ऐसी निष्ठा बड़े भाग्य से होती है।"

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! दो पगले एकान्त में यमुना के पावन पुलिन में रजत चूर्ण के समान कालिन्दी कूल की रेती में बैठे बातें कर रहे थे। प्रकृति स्तब्ध थी। पक्षी अपने घोसलों में सो रहे थे। संसारी लोग

निद्रा देवी के अंक में अपने को सौंप कर निद्रा सुख का अनुभव कर रहे थे। सब की गति रुकी हुई थी। केवल यमराज की भगिनी और हनुमानजी के पिता ही मंद-मंद गति से चल रहे थे। यमुनाजी का प्रवाह इतना शान्त प्रतीत होता था, मानों ठहर कर वे भी अपने प्रियतम की बातें सुन रही हों। पवन इतनी शीतलता और सुगंधि बटोर लाया था, मानों व्रजांगनाओं का प्रतिनिधि होकर व्रज वल्लभ के दो सखाओं का श्रद्धा से स्वागत-सत्कार कर रहा हो। सहसा पक्षियों का कलरव सुनाई दिया। रसाल की मंजरी पर बैठी कोयल कूक उठी। पक्षियों के बच्चे जाग उठे, उद्धवजी चौंक उठे—हैं! प्रातःकाल हो गया? अरे, एक क्षण भी नहीं हुआ और रात्रि बीत गई। कृष्ण विरह में मालूम होता है समय भी छोटा हो गया। इस प्रकार विदुर जी से कह कर आँसू बहाते हुए उद्धवजी ने कहा—"विदुरजी! आपके दर्शन से भगवान् के वियोग का दुःख तो कम हो गया; किन्तु अब एक नया दुःख उत्पन्न हो गया। भगवान् की आज्ञा का तो मुझे पालन करना ही है। बदरीवन तो मुझे जाना ही होगा; किन्तु अब आपके दर्शन कहाँ होंगे? प्रतीत होता है, यह हमारी आपकी अन्तिम भेंट है। देखो, काल की कैसी कुटिल गति है? दैव प्रेमियों को एकत्रित नहीं रहने देता है। मिलन विछोह ही के लिये होता है। संयोग से सदा ही वियोग बैठा रहता है। अब मैं जाना चाहता हूँ। मेरे ऊपर आप की इसी प्रकार कृपा बनी रहे। कभी कभी मुझे अपना सेवक समझकर स्मरण कर लिया करें।"

उद्धवजी के मुख से जाने की बात सुन कर विदुरजी फूट-फूट कर रोने लगे। आज उनके इतने दिन के जमे हुए सभी

आँसू उद्धव के वियोग से पिघल-पिघल कर वहने लगे। वे उद्धवजी की पदधूलि लेने को वढ़े ही थे कि झपट कर उद्धवजी ने उन्हें छाती से चिपटा लिया। बड़ी देर तक दोनों एक दूसरे से लिपटे रहे। इस वृन्दावन भूमि में आज दो भक्तों के मिलन को देखकर कालिन्दी स्तब्ध रह गई। आज उसे वे मिलन की बातें याद आने लगीं, जब एकान्त में श्यामसुन्दर से उनकी सहचरी हृदय से हृदय लगा कर मिलती थीं। दोनों ही अपने आपे को भूल गये।

कुछ समय के वाद प्रेम का वेग कम हुआ। दोनों एक दूसरे से अलग हुए। एक दूसरे ने परस्पर में प्रणाम किया, प्रदक्षिणा की और उद्धवजी विदुरजी को बार-बार निहारते हुए यमुना किनारे-किनारे वदरिकाश्रम को चल दिये। विदुरजी वहीं रोते खड़े खड़े उन्हें निहारते रहे। जब वे उनकी आँखों से ओझल हो गये, तो कटे वृक्ष की तरह यमुनाजी की वालू में धम्म से गिर पड़े।

छप्पय

मुनि मैत्रेय समीप कही हरि ने यह बानी।
मोर भक्त है विदुर परमप्रिय अतिशय ज्ञानी॥
तिनकूँ मेरो ज्ञान अवसि मुनिवर उपदेसें।
जिनकूँ सुमिरें श्याम सराहैं तिनकूँ कैसें।
आप पधारें गङ्ग ,तट हौं वदरीवन जायके।
हरि आराधन करौं तहँ, कंद मूल फल खायके॥

विदुरजी का हरिद्वार में जाना

(११६)

आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम् ।
ध्यायन्गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ॥
कालिन्द्याः कतिभिः सिद्ध अहोभिर्भरतर्षभः ।
आपद्यत स्वः सरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः ॥*
(श्री भा० ३ स्क० ४ अ० ३५, ३६ श्लो०)

छप्पय

कीन्हीं हरि ने सुरति दीन की अन्त समय महँ।
विदुर भये अति विकल गिरे मूर्छित ह्वै के तहँ॥
करिकैं दण्ड प्रणाम चले उद्धव बदरीवन।
विदुर भये यों दुखित कृपण को ज्यों खोयो धन॥
कृष्ण कथा सबरी सुनी, संस्कार पिछले जगे।
सुमिरि सुमिरि लीला ललित, दाढ़ मारि रोवन लगे।

संसार में सर्वश्रेष्ठ सुख क्या है ? अनुरागियों का संतों का, सच्चे सुहृदों का मिलन। दुःख क्या है ? उनका विछोह। विदुरजी अपने सगे सम्बन्धियों को इसलिये छोड़ आये थे,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे कुरुकुल तिलक राजन्! जब विदुरजी ने यह सुना कि परमधाम पधारते समय भगवान् ने मेरा

कि वे श्रीकृष्ण के विमुख थे। जिसे श्रीकृष्ण प्रिय नहीं हैं, वह सम्बन्धी होने पर भी शत्रु समान है। जो भगवत् भक्त प्रभु प्रेमी है, अच्युत अनुरागी है, वह कोई भी क्यों न हो, कहीं का भी क्यों न हो, अपना सुहृद है, सखा है। सर्वस्व है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! उद्धवजी के चले जाने पर उनके वियोग से विदुरजी अत्यन्त ही दुखित हुए। एक ओर तो हृदय में भगवान् की दयालुता का स्मरण हो रहा था, कि अन्तिम समय भगवान् ने मेरा स्मरण किया; दूसरी ओर उद्धवजी का प्रेम, उनका अनुराग, उनकी अहैतुकी भक्ति का स्मरण करके वे विकल हो रहे थे। उद्धवजी के प्रति उनका इतना प्रगाढ़ प्रेम था, कि उनके वियोग में विदुरजी फूट-फूट कर रोने लगे।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज, उद्धवजी की आप बहुत अधिक प्रशंसा कर रहे हैं। उनमें ऐसी कौन सी विशेषता थी ? फिर जब समस्त यदुवंश का विनाश हो गया, तो उद्धवजी कैसे बचे रहे ? ब्राह्मणों के शाप से भोज, वृष्णि, अन्धक, कुकुर, सात्वत, सभी यदुवंशी नष्ट हो गये, यहाँ तक कि ब्रह्मादिक देवताओं के भी अधीश्वर भुवनपति भगवान् ने भी अपना भुवन मोहन त्रैलोक्य सुन्दर स्वरूप तिरोहित कर

स्मरण किया था, तब तो वे परम भगवत् भक्त उद्धवजी के चले जाने पर इस बात को स्मरण करके प्रेम में विह्वल होकर रोने लगे। हे भरतवंशावतंस राजन् ! इसके अनन्तर वे परमसिद्ध विदुरजी यमुनाजी के किनारे से चलकर कुछ ही दिनों में गङ्गाजी के किनारे हरिद्वार में उस स्थान पर पहुँच गये; जहाँ महामुनि मैत्रेयजी निवास करते थे।

लिया तो उस चपेट से उद्धवजी को भगवान् ने क्यों बचा दिया ? उनमें ऐसी कौन सी विलक्षणता थी ?"

इस प्रश्न को सुनकर श्रीशुकदेवजी हँसे और बोले—"राजन्! भगवान् कभी भी किसी वस्तु का बीज नाश नहीं होने देते। बीज नाश हो जाय, तब तो क्रीडा समाप्त हो जाय। क्रीडा-प्रिय नटनागर ऐसा चाहते नहीं। वे तो नित नूतन क्रीडा करने के आदी हैं ? किसान यद्यपि खेत को काट लेता है, खेत मे दाना भी नहीं छोड़ता है, किन्तु घर में छिपा कर आगे के लिए कुछ बीज अवश्य रख छोड़ता है, कि समय पर ये ही बीज फिर वृक्ष होकर फलने फूलने लगें। बीज दो प्रकार का होता है—नाद बीज और विन्दु बीज। नाद विन्दु से ही सृष्टि और मुक्ति है। जहाँ नाद नहीं विन्दु नहीं, वहाँ सृष्टि नहीं मुक्ति नहीं। कलियुग में अधर्म के कारण सूर्यवंश, चन्द्र वंश नष्ट हो जायँगे। उन्हें सुरक्षित रखने को भगवान् ने अभी से प्रबन्ध कर दिया है। तुम्हारे वंश के एक देवापि और सूर्यवंश महाराज मरु ये दोनों राजा कलाप ग्राम में गुप्त भाव से योग समाधि में मग्न होकर तपस्या कर रहे हैं। जब कलियुग का अन्त हो जायगा, तो ये दोनों विवाह करके फिर सूर्यवंश, चन्द्रवंश की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखेंगे। यदुवंश की परम्परा के लिये भगवान् ने अपने पौत्र वज्र को उस संहार से बचा लिया। फिर भगवान् ने सोचा—'जब मैं इस अवनि से तिरोहित हो जाऊँगा, तो मेरा परम रहस्यमय तत्व ज्ञान भी लुप्त हो जायगा। यदि तत्व ज्ञान लुप्त हुआ, तब तो यह लोक अमंगल युक्त और ज्ञान शून्य भौतिकवादी बन जायगा। जीवों की स्वाभाविक रुचि विषयों में ही है। आचार से हीन होकर स्वेच्छाचार में प्रवृत्त होना—यह मनुष्यों का स्वभाव है, जहाँ-तहाँ

बिना विचार के भोजन, गम्यागम्य का विचार न करके स्वेच्छा पूर्वक व्यवहार करना—यही पाशविक प्रवृत्ति है। पारलौकिक कार्यों का विरोध करना या उनके प्रति उदासीनता धारण करना—ये ही आसुरी भाव हैं। यदि मेरा तत्व ज्ञान भी मेरे साथ चला गया, तो सभी लोग परमात्मा, परलोक और परमार्थ को भूल जायँगे। सर्वत्र भौतिकवाद का बोलबाला हो जायगा, यद्यपि कलियुगी जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाप कर्मों में ही होगी, वे परमार्थिक कार्यों को ढोंग, दम्भ और व्यर्थ की बकवाद समझेंगे, फिर भी कुछ लोगों में तो धार्मिक चर्चा का बीज बना ही रहना चाहिये। मेरे ज्ञान में किसी जाति वर्णका भेद भाव नहीं। श्रद्धावान् स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र कोई भी क्यों न हो, सभी इस ज्ञान के श्रवण के अधिकारी हो सकते हैं, किन्तु अश्रद्धावान्, अपात्र में यह ज्ञान ठहर नहीं सकता। सिंहनी का दूध सुवर्ण पात्र मे ही रह सकेगा। अन्य किसी पात्र में रख दें, तो पात्र फट जायगा, दूध बिखर जायगा। मेरे पश्चात् मेरे इस ज्ञान बीज को धारण करने में और उसकी परम्परा बनाये रखने में एकमात्र उद्धवजी ही समर्थ हो सकते हैं। अतः उन्हें ही इस ब्रह्मशाप रूपी अनल के प्रकोप से बचा कर अपना गुह्य ज्ञान देकर मैं बदिरकाश्रम भेज दूँ। वहाँ ये भावना द्वारा तपस्या करते हुए समस्त संसार का कल्याण करते रहेंगे। साधन शरीर से बदिरकाश्रम में साधन करेंगे और दूसरे सिद्ध शरीर से रसमयी व्रज भूमि में लता रूप में रह कर मधुरातिमधुर रस का आस्वादन करते रहेंगे। इस प्रकार लोक कल्याण भी होता रहेगा और इन्होंने जो व्रज में जाकर गुल्मलता बनने की इच्छा प्रकट की थी, वह भी पूरी हो जायगी। मेरे पश्चात् उद्धव ही ऐसे हैं, जो इस ज्ञान को

सुरक्षित रख सकें। उद्धवजी तेज में, प्रभाव में मुझसे अणुमात्र भी कम नहीं। कैसी भी परिस्थिति में क्यों न रहें, संसारी विषय भोग इनके चित्त को कभी चंचल नहीं कर सकते। इसलिये अभी विश्वकल्याणार्थ लोकोपकार के निमित्त, परोपकार की भावना से इन्हें मर्त्यलोक में ही रहना चाहिये।

राजन्! भगवान् तो सत्य संकल्प ठहरे। उनकी इच्छा कभी व्यर्थ नहीं होती। उनका सोचना और हो जाना दो नहीं जो सोचा वही तत्क्षण हो गया। अपना ज्ञान देकर भगवान् ने उद्धवजी को बदरिकाश्रम के लिये भेजा। रास्ते में उनकी भेंट महाभागवत विदुरजी से हो गई। दोनों में रात्रि भर भगवान् के ही सम्बन्ध की बातें होती रहीं। प्रातःकाल होते ही दोनों पृथक् हो गये। उद्धवजी रोते हुए विदुर को बार-बार निहारते हुए चल दिये।

उद्धवजी के चले जाने पर विदुरजी को वे वृन्दावन की कुंजें सूनी-सूनी सी दिखाई देने लगीं। पक्षियों के कलरव में उन्हें रुदन की सी ध्वनि सुनाई देने लगी। मन्थर गति से जाती हुई माधव प्रिया कालिन्दी का मुख म्लान प्रतीत होने लगा। जिन उद्धवजी को भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख से अपने ही सदृश बताते हैं, उनके वियोग से विदुरजी जैसे परम भक्त की ऐसी दशा हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। उन्होंने अपने सभी कुटुम्बियों को छोड़ दिया था। यात्रा में भी किसी से मिलने की इच्छा नहीं हुई, किन्तु आज सहसा अपने बाल-सखा उद्धवजी को पाकर वे हरे हो गये। समस्त शोक सन्ताप भूल गये। किन्तु ये भी निर्मोही की भाँति छोड़ कर चले गये। इससे उनके मन में बड़ी ठेस लगी। हाय! यह संयोग वियोग

का विधान विधिना ने कैसा क्रूर बनाया है ? अपने परम प्रेमी सुहृदों से मिलकर बिछुड़ना कैसा वीभत्स कांड है ? किन्तु करें क्या ? सभी के कर्म पृथक्-पृथक् हैं। प्रारब्धों की विभिन्नता से अनिच्छा पूर्वक भी ये दुःख हृदय पर पत्थर रख कर सहन करने पड़ते हैं।

बड़ी देर तक विदुरजी आँसू बहाते रहे, जब रोते-रोते हृदय कुछ हलका हुआ, प्रेम का वेग कम हुआ, तब वे धैर्य धारण करके उठे। उन्होंने उस उत्तर दिशा को प्रणाम किया जिस ओर उनके परम स्नेही उद्धव जी पधारे थे। फिर उन्होंने व्रज की धूलि को मस्तक पर चढ़ाया, वृन्दावन की गुल्मलताओं और पशु पक्षियों को प्रणाम किया, तदन्तर वे दुखित चित्त से वहाँ से चल दिये।

जिन्होंने लीला से ही मनुष्य शरीर धारण किया है, जो वेदों की उत्पत्ति के स्थान हैं, जो उद्धवजी के ही नहीं, सम्पूर्ण जगत् के गुरु हैं, वे भगवान् स्वधाम पधार गये। बन्धु बान्धवों का विनाश हो गया। अब विदुरजी को जीने की अभिलाषा नहीं रही, किन्तु एक ही लोभ उन्हें जीवित रखने को विवश कर रहा था। स्वधाम पधारते समय प्रभु ने मेरा स्मरण किया है। मुनियों में श्रेष्ठ भगवान् मैत्रेय को मुझे भागवत तत्व के उपदेश करने का आदेश दिया है, किसी प्रकार गङ्गाद्वार चलकर उस भगवदुच्छिष्ट ज्ञान का मैं पान करके कृतार्थ हो जाऊँ। उद्धवजी के सम्मुख भगवान् ने जो मुझे ज्ञान-दान का अधिकारी समझा है, उस ज्ञान को पाकर मैं अपने जीवन को सफल बना लूँ। यही सब सोचकर वे यमुनाजी के किनारे-किनारे कुछ दूर चले। फिर यमुनाजी को पार करके कुछ काल में वे भगवती भागीरथी के तटपर आ गये और उनके तट का

आश्रय लेकर थोड़े ही दिनों में अत्यन्त शीघ्रता के साथ वे कुशावर्त क्षेत्र—मायापुरी हरिद्वार में पहुँच गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हरिद्वार में जो विदुर मैत्रेय सम्वाद हुआ उसे मैं आगे आप सबको सुनाऊँगा। उसे आप सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

विदुर सँग नहिँ गये चेतना उद्धव सँग ई।
गई, चेतना शून्य भये व्याकुल वे तब ई॥
धरयो धीर पुनि उठे शून्य सब देइ दिखाई।
पुनि कृपालु की कृपा यादि तबई है आई॥
मुनि मैत्रेय समीप वे, तुरत तहाँ तें चलि दये।
सुरसरि-तट की बाट गहि, हरिद्वार पहुँचत भये॥

हरिद्वार में मैत्रेयजी के समीप श्रीविदुरजी

(१२०)

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरुणाम्,
मैत्रेयमासीनमगाधबोधम् ।
क्षत्तपोसृत्याच्युतभावशुद्धः
पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः ॥
(श्री भा० ३ स्क० ५ अ० १ श्लो०)

छप्पय

पिता गोद तें जहाँ अवनि पै आई गंगा ।
हर-हर गायन करहिँ ताल दें तरल तरंगा ॥
कुशावर्त अति विमल द्वार गंगा मायापुर ।
सप्त स्रोत तें बहे देवसरि अति उमगे उर ॥
वास करे तहँ भक्तवर, मुनि मैत्रेय कृपायतन ।
भये विदुर सन्तुष्ट अति, सुठि स्वभाव लखि मुदित मन ।

जिनके हृदय में कभी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने की उत्कण्ठा उत्पन्न नहीं हुई, जिनके मन में कभी सद्‌गुरु के चरणों में पहुँचने की चटपटी नहीं लगी, वे इसके स्वारस्य को समझने

१ श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! अच्युत भाव से भावित कुरुकुल श्रेष्ठ विदुरजी हरिद्वार क्षेत्र में पहुँच

में समर्थ नहीं हो सकते। हृदय में जब ज्ञान-प्राप्ति की—दीक्षा ग्रहण करने की—आकाँक्षा उठती है, तब समस्त संसार सूना-सूना सा प्रतीत होता है। अपुत्रिणी स्त्री को प्रथम गर्भस्थ बालक के मुख दर्शन की जैसी उत्कण्ठा होती है, नव वधू के मिलने के लिये वर को जितनी उत्कण्ठा होती है, सती-साध्वी, पति परायणा प्रोषितभर्तृका को परदेश से आने वाले पति के दर्शनों की जैसी उत्कण्ठा होती है, इन सब से भी शत-गुणी सत्शिष्य को सद्गुरु के दर्शनों की आकांक्षा हुआ करती है। नियम ऐसा होता है कि पहिले हम किसी से द्वारा किसी महापुरुष की प्रशंसा सुनते हैं, उसके सम्बन्ध में पढ़ते हैं, तो हमारे मन में उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा होने पर हम उनका अधिक परिचय पाने को उत्सुक होते हैं। दूर से परिचय पाकर हम उनके सम्पर्क में आने को लालायित हो उठते हैं। यदि सम्पर्क में आने पर हमारी उनके प्रति श्रद्धा बनी रहे, हमें उनकी प्रतीति हो जाय, तो प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति होने पर अपनापन हो जाता है।

कभी-कभी ऐसा होता है, दूर से तो हम किसी के गुणों की प्रशंसा सुन कर उसके प्रति आकर्षित होते हैं, किन्तु समीप आने पर हमारा वह आकर्षण नहीं रहता। हमारी श्रद्धा कम हो जाती है। इसका कारण यह है, कि सुन कर जो हमें आकर्षण हुआ था, वह उसकी कला का आकर्षण था। अच्छा चित्रकार भगवत् भक्त भी हो, यह आवश्यक नहीं। सुन्दर

गये। वहाँ पर उन्होंने अगाध बोध सम्पन्न महामुनि मैत्रेयजी को शान्त भाव से चुपचाप बैठे हुए देखा। उसके साधुस्वभाव से सन्तुष्ट होकर वे प्रश्न पूछने को उद्यत हुए।"

लेखक सदाचारी ही हो, यह आवश्यक नहीं। अच्छा वक्ता व्यवहार पटु भी हो, यह कोई नियम नहीं। किसी कला में निपुण होना और जीवन को संयम के साँचे में ढाल कर अपने बाहर-भीतर के जीवन को एक सा सरल बना लेना—ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं। सरल सदाचारी सन्त विशेष कला कोविद भी हो सकते हैं और कलाकार शिष्टाचार सदाचार से हीन भी हो सकता है। ऐसे कलाकार की कला के प्रति सम्मान रखने पर भी, कलाकार के निजी जीवन के प्रति हमारा असम्मान बना रहता है।

विदुरजी ने महामुनि मैत्रेय का समाचार श्रीउद्धवजी से श्रवण किया। सुनते ही उनके हृदय में मैत्रेयजी से दर्शनों की उत्कण्ठा हुई। अहा! भगवान् ने मुझे उपदेश करने के लिये महामुनि मैत्रेय जी को आज्ञा दी है, कैसे होंगे वे तपोधन? पता नहीं, मेरे ऊपर कृपा करेंगे या नहीं? मैं शूद्रा माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ हूँ, आजकल बन्धु-बान्धवों से भी परित्यक्त हूँ, धनहीन अकिंचन हूँ, बिना घर द्वार के अलक्षित भाव से घूम रहा हूँ, महामुनि महान् होंगे। सैकड़ों शिष्यों से घिरे होंगे, मुझे कोई उनके समीप जाने भी देगा कि नहीं? फिर पता नहीं, पहिले पहल में कैसे जाकर उनसे मिलूँगा? किस प्रकार मैं अपना परिचय दूँगा?" इसी प्रकार का अनेक ऊहा-पोह करते हुए वे महामुनि के दर्शनों की अभिलाषा से जा रहे थे। हरिद्वार में पहुँच कर उन्होंने किसी से मैत्रेय मुनि के आश्रम का मार्ग पूछा। उसके बताये मार्ग से वे मुनि के आश्रम के समीप पहुँचे। उन्होंने जाकर देखा—गङ्गाजी के तट पर बहुत ही शान्त एकान्त निर्जन स्थान में महामुनि का

सुन्दर स्वच्छ, लिपा-पुता आश्रम है। वहाँ बहुत भीड़-भाड़ नहीं है। एक-दो साधारण शिष्य हैं। चारों ओर हरे-भरे वृक्ष खड़े हैं। कूप के समीप ही केलों का बन है, जिसमें फलों से लदे बहुत से बड़े-बड़े केले खड़े हैं। सामने ही तुलसी का बन है, जिसमें हरी, काली तुलसी के सैकड़ों वृक्ष मञ्जरी से युक्त खड़े हैं। उसके समीप ही भाँति-भाँति के फल फूल वाले बहुत से वृक्ष हैं। चारों ओर शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ है। आश्रम से सटकर ही कल-कल निनादिनी भगवती भागीरथी बह रही हैं। किनारे पर लाल, काले सफेद तथा और भी अनेकों रङ्ग के गोल-गोल छोटे बड़े पाषाण पड़े हैं। हिमालय से जब बालिका अलकनन्दा चलती हैं तो स्नेहवश उनके पिता बहुत से पाषाण-खण्ड रूपी सेवकों को उनके साथ कर देते हैं। छोटी बच्ची है, अकेली अपने पति समुद्र के यहाँ जाने में डरेगी। गङ्गा को तो अपने पति से मिलने की चटपटी पड़ी रहती है। वह वहाँ से बड़े वेग से दौड़ती हैं। पाषाण-खण्ड रूपी सेवक भी उसके प्रवाह के साथ दौड़ते हैं। किन्तु मोटा भारी आदमी चञ्चल बालिका के साथ दौड़ कितना सकता है? बहुत से दीर्घ काय पाषाण खण्ड तो वहीं अटक जाते हैं। गंगा उन सब की प्रतीक्षा नहीं करती। उसे तो भागने की धुनि लगी रहती है। जो साथ चल सकता है, उसे तो साथ लेती है, जो नहीं चल सकता उसे वहीं छोड़ देती है। हरिद्वार में आते-आते मोटे-मोटे बड़े-बड़े तो सब हृषीकेश तक ही रह जाते हैं, छोटे-छोटे फुरतीले यहाँ तक आते हैं। यहाँ आते-आते गंगा अब कुछ सयानी हो जाती है। पिता की गोद से कूद पड़ती है। पिता भी सोचते हैं—अब आगे कोई भय की बात नहीं। अब ऊबड़-खाबड़ पथ तो समाप्त हो गये। आगे अब सम भूमि

है। अतः वे गंगा को वहीं से विदा कर देते हैं। वहीं उनके घर का अन्तिम द्वार है। सीमा पर जो सेवकों की सेना रहती है, उनमें से छोटे-बड़े कुछ दूर गंगाजी के साथ और चलते हैं। बहुतों को गंगाजी छोड़ देती हैं। उनके पैर तो नहीं, नग की संतान ही ठहरे। शरीर के बल गंगा के सहारे से लुढ़कते हैं। लुढ़कने के कारण गोल-मटोल बन जाते हैं। हरिद्वार में ऐसे गोल-मटोल नग के वंशज गंगा के जाति-बन्धु बहुत से हैं। वे हिमालय से गंगाजी के साथ आये थे। गंगा उनमें से कहीं किसी को, कहीं किसी को छोड़ कर भाग जाता है। इसीलिये वे लाखों करोड़ों की संख्या में जहाँ-तहाँ हरिद्वार में अनाथों की भाँति पड़े रहते हैं। गंगाजी के मार्ग में पड़े वे प्रतीक्षा करते रहते हैं, कि वर्षाकाल श्रावण में पिता से प्यार पाकर गंगा हममें से किसी को साथ ले जाती हैं। श्रावण भादों में कुछ को गंगा ले भी जाती है, किन्तु दस-बीस कोस ले जाकर उन्हें छोड़ देती है। फिर तो उसे अनेकों बहिनें मिल जाती हैं। प्रयाग में बड़ी बहिन यमुना को भी साथ ले लेती है। अतः प्रयाग तक कोई भी नहीं आता। हरिद्वार में विदुरजी ने ऐसे गोल-मटोल लाखों पाषाण खण्ड मुनि मैत्रेय की कुटी के समीप पड़े देखे। वे सोचने लगे—ये पाषाण खण्ड ही धन्य हैं जो विष्णु पादाब्जसंभूता भगवती भागीरथी के मार्ग में पड़े-पड़े इन ऋषि मुनियों की चरण धूलि को अपने सिर पर धारण करते हैं। गंगा स्नान करके जब ये तपःपूत ऋषि मुनि भगवत् भक्त आते होंगे, तो इन्हीं के ऊपर अपने चरण कमल रखते हुए कुटियों में जाते होंगे। इस प्रकार की अनेक बातें सोचते, गंगातट की शोभा देखते हुए विदुरजी मैत्रेय मुनि के आश्रम में पहुँच गये।

जाते ही उन्होंने देखा, एक वस्त्र से ढके मृगचर्म पर शान्त भाव से महामुनि मैत्रेयजी बैठे हैं। वे अपने आप में तृप्त हुए, ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव कर रहे हैं। देखते ही विदुरजी के रोम-रोम खिल उठे। उन्होंने भूमि में लोटकर उन मूर्तिमान तपस्या के पुंजीभूत विग्रह उन महामुनि को साष्टांग प्रणाम किया। अपने सामने भूमि मे लोट कर प्रणाम करते हुए विदुरजी को देखकर मुनि का मुख कमल शारदीय ज्योत्सना की भाँति खिल उठा। उन्होंने शीघ्रता से उठकर बल पूर्वक विदुरजी को भूमि से उठाया और उनका गाढ़ालिंगन किया। उनके शरीर की धूलि उन्होंने अपने कोमल करों से झाड़ी और अत्यन्त ही स्नेह से उनके सम्पूर्ण शरीर पर हाथ फेरते हुए बोले—'विदुरजी! आप भले आये, भले आये! मैं आपकी ही प्रतीक्षा कर रहा था। आपका शरीर स्वस्थ है न? आप सब प्रकार से सकुशल हैं न? स्वधाम पधारते समय भगवान् ने मुझे आदेश दिया था, कि उनके दिये हुए परमतत्त्व भूत भागवत ज्ञान को मैं आपको बताऊँ। मुझे अब इस पापपूर्ण संसार में अधिक दिन रहने की इच्छा नहीं है। जिस पृथ्वी को भगवान् ही त्याग गये, उसमें तो अब कलि और अधर्म का साम्राज्य हो जायगा। उसमें अब अधिक रहना व्यर्थ है। मुझे एक ही अभिलाषा थी, कि भगवान् की आज्ञा का पालन कर सकूँ, तुम्हें ज्ञानोपदेश देकर परमपद को प्राप्त करूँ। सो तुम आही गये। अब तुम मुझ से परमार्थ

सम्बन्धी प्रश्न करो। उसका मैं भगवान् के बताये हुए उपदेश के अनुसार उत्तर दूँगा।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! इतना कह कर मैत्रेयजी ने विदुरजी का स्वागत सत्कार किया। उन्हें जल और खाने को कंद मूल फल दिये। प्रसाद पाकर और विश्राम करके विदुरजी मैत्रेयजी से प्रश्न पूछने को उद्यत हुए।

छप्पय

देखे मुनि आसीन प्रेम महँ तन्मय विह्वल।
परम शान्त गम्भीर निरामय निर्मल निश्चल॥
करिकें दर्शन शोक मोह सब भय भ्रम भागे।
जाइ दंडवत परे अवनि पै मुनि के आगे॥
करत दंडवत विदुर कूँ, लखि मुनिवर ठाड़े भये।
बरबस तुरत उठाइकें, निज हिय में चिपका लये॥

विदुरजी का मैत्रेयजी से पारमार्थिक प्रश्न

(१२१)

सुखाय कर्माणि करोति लोको—
न तैः सुखं वान्यदुपारमंवा ।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखम्,
यदत्र युक्तं भगवान्वदेन्नः ॥*
(श्री भा० ३ स्क० ५ अ० २ श्लो०)

छप्पय

विधिवत् करि आतिथ्य कुशल पूछी सब की मुनि ।
कुछ करिके विश्राम चलाई बात विदुर पुनि ॥
हँसि बोले मुनि विदुर ! यदि हरि तुम्हरी कीन्हीं ।
करूँ तुम्हें उपदेश मोहि यह आयसु दीन्हीं ॥
पूछो जो शंका तुमहिँ, सब संशय अब ही हरहुँ ।
जो उपदेस्यो मोहिँ हरि, समाधान तातें करहुँ ॥

संसार के समस्त सांप्रदायिक-ग्रन्थों में, सभी शास्त्रों में - प्रधानतया एक ही प्रश्न है—दुख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति कैसे हो ? सभी ने घुमा फिरा कर नाना हेतु और प्रमाण

*विदुरजी मैत्रेयमुनि से पूछते हैं—"भगवन् ! संसार में सभी लोग सुख प्राप्ति के ही लिये समस्त कर्मों को करते हैं, किन्तु उनसे

देकर इसी प्रश्न को उठाया और इसी के समाधान में सारा पांडित्य खर्च किया है। इस प्रश्न से यह स्पष्ट सिद्ध होता है, कि संसार में प्रधानतया दुःख ही दुःख है, सुख नहीं है। जीव मात्र चाहता है सुख। उसके समस्त प्रयत्न सुख के लिये होते हैं। दुःख कोई नहीं चाहता। न चाहने पर भी दुःख हमारी छाती पर सदा सवार ही रहता है। अतः उस दुःख की निवृत्ति करना और शाश्वत सुख की प्राप्ति करना चाहिये।

इस बात को एकाग्रचित्त से गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय, कि ये संसार के समस्त प्राणी जो रात्रि दिन कर्मों में व्यस्त बने रहते हैं, रात्रि दिन घोर परिश्रम करते हैं, यह किसलिये ? इसीलिये न कि हमारा दुःख दूर हो, सुख की उपलब्धि हो। इसी बात को ध्यान में रखकर विदुरजी ने विनीत भाव से महामुनि मैत्रेयजी से प्रश्न किया।

विदुरजी स्वस्थ चित्त होकर मुनि के सम्मुख बैठे, उनकी विधिवत् पूजा की, उन्हें प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर बोले—"भगवन् ! मेरी एक प्रधान शंका है, पहिले उसी को पूछता हूँ, तब तब अन्य प्रश्न करूँगा।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए हँसकर वे अगाध बोध मुनि बोले—"विदुरजी ! आप बड़ी प्रसन्नता से, संकोच छोड़ कर

उन्हें न तो सुख ही होता है और न दुःख की ही निवृत्ति होती है। यही नहीं उनसे उलटा दुःख ही उठाना पड़ता है। इस विषय में आप जो उचित समझते हों. हे प्रभो ! उसका उपदेश आप मुझे दीजिये।"

प्रश्न कीजिये। भगवान् ने जो मुझे ज्ञानोपदेश किया है, उसी के अनुसार मैं आपके समस्त प्रश्नों का उत्तर दूँगा।"

यह सुनकर विनीत भाव से विदुरजी बोले—"प्रभो! ये संसार के सभी लोग दुःख निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के ही लिये प्रयत्न करते हैं, किन्तु इन प्रयत्नों से न तो उनके दुःख की अत्यन्त निवृत्ति ही होती है, न शाश्वत सुख की उपलब्धि ही होती है। यही नहीं, प्रयत्न सुख के लिये करते हैं, मिलता है उलटा दुःख।

देखिये, किसान रात्रिदिन परिश्रम करता है, जाड़ा, गर्मी वर्षा किसी की परवाह नहीं करता। न भरपेट खाता है, न पूरी नींद सोता है। इसीलिये कि जहाँ यह खेती पकी तहाँ मुझे सुख ही सुख है। मेरे सब दुःख दरिद्रता दूर हो जायँगे। किन्तु खेती बीच में ही नष्ट हो जाती है, कभी अति वर्षा से, कभी बिना वर्षा के कभी मूसों के उपद्रव से, कभी टिड्डियों के प्रकोप से। कभी कीड़े लग गये, कभी पाला पड़ गया, कभी दैविक, भौतिक और भी बहुत उपद्रव हो गये। यदि ये सब न हुए, सकुशल पककर आ गई तो राजदण्ड, भूमिकर, महाजन का ऋण, चोरों का उपद्रव, याचकों की भीड़ आदि अनेक कारणों से अन्न छिन जाता है। न भी छिने तो उनसे जितना सुख होना चाहिये नहीं होता, इच्छानुसार तृप्ति नहीं होती।

हम एक गाड़ी मोल लेते हैं, कि इससे सुख मिले। किन्तु यह टूट जाती है पुरानी हो जाती है, मैली हो जाती है, माँगने वाले तंग करते हैं, उसके उपयुक्त सामग्री नहीं मिलती। सुख के स्थान में दुःख ही होता है। हम एक मकान बनाते हैं, कि उससे सुख मिले, किन्तु उसे बनवाना, मरम्मत करवाना, सामान

जुटाना इन सबमें दुःख ही दुःख है। फिर गिर गया, दूसरे ने छीन लिया, द्रव्य के अभाव में बेचना पड़ा, प्रबल प्रभाव से छोड़ना पड़ा, इन सब कारणों से दुःख ही होता है। कोई अच्छी चीज सुख के लिये खाने की इच्छा हुई, कि इसे खाने से सुख मिलेगा, किन्तु खाने के पश्चात् तृष्णा और बढ़ जाती है, दुःख होता है। अधिक खा जायँगे, रोग हो जाता है। क्षण भर के स्वाद के पीछे महीनों क्लेश सहना पड़ता है। किसी सुन्दर रूप को देखने की इच्छा होती है, उसे ज्यों-ज्यों देखते हैं त्यों-त्यों उसकी ओर आकर्षण बढ़ता है। उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं। उनमें नाना क्लेश होते हैं। प्राप्त करके भी उससे सर्वथा सुख नहीं होता, दुःख ही होता है। संसार में आज तक कितने-कितने प्रबल पराक्रमी नरपति हो गये, कितने शूरवीर, यशस्वी, तेजस्वी और भोगवान् पुरुष हो गये। किसी ने यह नहीं कहा—हमें इन संसारी पदार्थों से सर्वदा सुख हुआ है। यही नहीं, सबही ने एक स्वर से कहा है—संसार में जितने धान्य हैं, खाने के पदार्थ हैं, जितने सुवर्ण आदि धन हैं, जितने घोड़ा, गौ, मनुष्य के उपयोगी पशु हैं, जितनी मनुष्य को प्रिय दिखाई देने वाली, विषय सुख प्राप्त कराने वाली वराङ्गनाएँ सभी एक ही मनुष्य को दे दी जायँ, तो भी इन सबसे एक आदमी की भी तृप्ति न होगी। भोग सामग्री जितनी ही बढ़ती जायगी, तृष्णा भी उससे सतगुणी बढ़ती जायगी। जिसकी जितनी ही अधिक तृष्णा है, वह उतना ही अधिक दरिद्री है। तृष्णा का अन्त नहीं, वह अनन्त है। इसी प्रकार दुःख भी अनन्त हैं। इन दुःखों से छूटने का उपाय क्या है? कौन सा कार्य करने से मनुष्यों की दुःखों से निवृत्ति और परमसुख शान्ति की प्राप्ति हो सकती है? मनुष्य इधर से उधर

सुख के लिये भटकता रहता है। बड़े बड़े नगरों के चौराहे पर बैठ जाइये। हजारों लाखों आदमी इधर-उधर व्यग्र होकर आते जाते दिखाई देंगे। उनमें से प्रत्येक से प्रश्न कीजिये—आप क्यों जा रहे हैं? सबका एक ही उत्तर होगा दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्ति के लिये जा रहे हैं। कोई कहेगा—मेरा पिता, भाई, लड़का, माता, बहिन, स्त्री, सगे सम्बन्धी मित्र आदि बीमार हैं। उनके लिये औषधि लेने वैद्य को बुलाने जा रहा हूँ, कोई कहेगा—न्यायालय में मेरा अमुक अभियोग चल रहा है, उससे मुक्ति के लिये प्रयत्न करने जा रहा हूँ। कोई कहेगा—मुझे खाने पीने का कष्ट है। उसकी निवृत्ति के लिये, नौकरी, चाकरी, व्यापार, सट्टा जूआ, दगा, चोरी, ठगई, बेईमानी, पाठ पूजा देवार्चन करने जा रहा हूँ। कोई कहेगा—दिन भर काम करते-करते चित्त ऊब गया है, थोड़ा मन बहलाने, घूमने, फिरने जा रहा हूँ। कोई कहेगा—नशे के बिना चित्त चंचल हो रहा है, भंग, अफीम, गाँजा, पान, तमाखू, सुरती, मद्य पीने या लेने जा रहा हूँ। कोई काम तप्त होकर कामिनी के यहाँ, कोई कलवार के यहाँ, कोई किसी के यहाँ अपने स्वार्थ के लिये जाने को बतावेगा। उनमें से एक भी ऐसा न होगा, जो दुःख निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा कारण बतावे। उनमें से सबसे पूछिये—आपके दुःख की अत्यन्त निवृत्ति और सुख की प्राप्ति हो गई? सबका एक ही उत्तर होगा—दुःख की अत्यन्त निवृत्ति तो नहीं हुई, मेरा सम्बन्धी दवा से कुछ तो अच्छा हुआ किन्तु कुछ कसर रह गई, नौकरी मिली तो सही, किन्तु आवश्यकता के अनुसार यथेष्ट वेतन नहीं मिलता। व्यापार में लाभ तो हुआ किन्तु जितना होना चाहिये उतना नहीं हुआ। सब लोग इसी ताक

में इधर से उधर घूम रहे हैं। सभी सुख पाने के लिये गमन कर रहे हैं किन्तु वे दुखी ही दिखाई देते हैं।"

इस पर मैत्रेयजी ने कहा—"भाई! हम लोग भी तो इधर से उधर घूमा करते हैं। देखो दस-बीस दिन पूर्व हम प्रभास क्षेत्र में थे फिर नाना तीर्थों में होते हुए हरिद्वार में आ गये। अब थोड़े दिनों में वहाँ से भी चलते हैं—जैसे सब घूम रहे हैं वैसे हम भी घूमते हैं।"

इस पर शीघ्रता से विदुरजी बोले—"नहीं, भगवन्! आप के घूमने में और संसारी लोगों के घूमने में अन्तर है। संसारी लोग तो समझते हैं—विषयों की प्राप्ति में, उनकी प्रचुरता में ही सुख है। अतः वे तो विषयों को पाने की अभिलाषा से घूमते हैं, किन्तु आप जैसे परोपकारी भगवद्भक्त तो दुर्भाग्य वश भगवान् से विमुख हुए मूढ़ लोगों के ऊपर कृपा करने के निमित्त, अधर्म परायण और संसारी तापों से सन्तप्त हुए अत्यन्त दुखी लोगों के दुःख दूर करने के निमित्त, परोपकार वुद्धि से वैसे ही संसार में विचरते रहते हैं। यदि आप जैसे सन्त पृथ्वी पर पर्यटन न करें तब तो सभी संसारी लोग सदा दुखी ही बने रहें। क्योंकि सन्तों के उपदेश के बिना ये विषया सक्त पुरुष विषयों के मोह को छोड़ नहीं सकते। बिना विषयों के मोह को छोड़े कोई सुखी बन नहीं सकते। अतः आप जैसे महात्माओं का विचरण तो स्वयं अपने दुःखों की निवृत्ति के लिये नहीं, संसार में फँसे लोगों को दुःख से छुड़ाने के निमित्त होता है। इसलिये हे साधुवर्य! हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवन्! आप मुझे उस आराधना का उपदेश करें, जिसके करने से मनुष्यों के अन्तःकरण में साक्षी रूप से विराजमान श्रीहरि अपना यथार्थ रूप प्रकट कर सकें। जिसके द्वारा अन्तःकरण

शीशे से समान शुद्ध हो जाय, जिससे सम्पूर्ण जगत के साक्षी श्यामसुन्दर दिखायी देने लगें। जिस उपासना से हृदय में प्रकट होकर प्रभु ऐसे बुद्धियोग का उपदेश दे सकें, जिसके द्वारा हम उन्हें प्राप्त कर सकें, उनके समीप सदा के लिये पहुँच सकें। ऐसे सर्वदा सुख शान्ति कराने वाले मार्ग का मुझे उपदेश करें।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! इस मुख्य प्रश्न को करके श्री विदुरजी महामुनि मैत्रेय जी की ओर एकटक भाव से देखते के देखते ही रह गये।"

छप्पय

तब बोले श्रीविदुर—विभो! इक बात बतावें।
काहे ये सब जीव कर्म करि दुख ई पावें॥
दुख निवृत्ति सुख हेतु करहिं शुभ अशुभ कर्म नर।
किन्तु न दोनों होयँ क्लेश ही पाहिं निरन्तर॥
नर सुरतरु तर ज्यों मुदित, सन्त दरश त्यों सुख लहें।
साधहिं पर कारज सतत, सन्त देह धरि दुख सहें॥

विदुरजी के अन्य प्रश्न

(१२२)

तान्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे
हरेः कथायां विमुखानघेन।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषाम्,
आयुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥❀
(श्री भा० ३ स्क० ५ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

विभो ! विशुद्ध चरित्र श्याम के मोहिं सुनावें।
पावें शाश्वत शान्ति सुगम सी गैल बतावें॥
धर्म काम अरु अर्थ पिता सन सब मुनि जाने।
तृप्ति न तिनतें भई क्षुद्र कैतव युत माने।
कृष्ण कथा की लगन ई, विषय विरक्त बनावती।
मन महँ मोद बढ़ावती, सबरे दुःख मिटावती॥

भागवत कथा के जिस श्रोता को भी आप पावेंगे, उसके वे ही इने गिने प्रश्न होंगे। वे सभी रहस्य की बात पूछते हैं। सबसे बड़ा रहस्य तो यह दृश्यमान् संसार है। अतः भागवत

❀ उद्धवजी महामुनि मैत्रेयजी से कह रहे हैं "भगवन् ! जो पुरुष पूर्व जन्मों के पापों के कारण पुण्यमयी पुरुषोत्तम की कथा से

मुमुक्षुओं का पहिला प्रश्न तो इस संसार के विषय में होता है। यह नाना रूप, नाना पदार्थों वाला, प्रतिक्षण बदलने वाला संसार कैसे हुआ? इसकी सृष्टि कौन करता है? कौन इसका नियमन करके सुव्यवस्था में रखता है? कौन इसका पालन करता है और अन्त में संहार करता है? जीव कर्म बन्धनों में क्यों भटकता है? इस बन्धन से जीवों की मुक्ति किस प्रकार हो सकती है? इस जगत् के आश्रय कौन हैं— वे अवनि पर अवतरित होकर क्या-क्या करते हैं? कौन कौन सी दिव्य क्रीड़ाओं के द्वारा वे प्राणियों को प्रसन्नता तथा प्रेम प्रदान करते हैं? जिसे भी देखोगे, घुमा फिरा के इन्हीं प्रश्नों को करेगा। जान में अनजान में, सभी के मस्तिष्क में ये प्रश्न घूमते रहते हैं। सभी को भगवान् की जब तक प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक ये प्रश्न बेचैन बनाये रहते हैं। आप कहेंगे कि नास्तिक तो भगवान् को मानते ही नहीं। जब वे भगवान् का अस्तित्व ही नहीं मानते, तो वन्ध्या पुत्र के समान उनके सम्मुख तो भगवत् प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं। किन्तु बात ऐसी है नहीं। हम कहें कि हम पृथ्वी को नहीं मानते, पक्षी कहें कि हमें आकाश दीखता नहीं, इसलिये आकाश को नहीं मानते। मुँह से भले ही बकते रहें। पृथ्वी को न मानने पर भी रहेंगे पृथ्वी में ही। उसे छोड़ कर कहीं क्षण भर को भी नहीं जा सकते। आकाश का अस्तित्व पक्षी

विमुख रहते हैं, उन अत्यन्त ही शोचनीय पुरुषों के लिये मुझे बड़ा शोक है, क्योंकि उनकी वाणी के द्वारा, देह के द्वारा तथा मन के द्वारा व्यर्थ ही व्यापार होते रहते हैं और इनको करते-करते ही उनकी आयु के अमूल्य क्षणों को काल भगवान् नष्ट करते रहते हैं।”

न मानें किन्तु हर प्रकार से उड़ेंगे आकाश में ही। नास्तिक यदि ईश्वर को नहीं मानता तो वह झगड़ा क्यों करता है? जो चीज है ही नहीं, उसके अस्तित्व के विरोध में इतना बवंडर क्यों उठाते हैं। ? क्यों आस्तिकों से शास्त्रार्थ करते हैं? क्यों उनका वध कराते हैं? क्यों उन्हें जल में डुबाते हैं? क्यों उनके ग्रन्थों को नष्ट कराते हैं? इससे सिद्ध होता है, कि उन्हें भी यह ही प्रश्न व्यथित किए हुए है। जब इन चर्म चक्षुओं से वे भगवान् को नहीं देख सकते, तो उन्हें भगवान् के प्रति क्रोध उत्पन्न होता है, कि तुम्हारा अस्तित्व ही हम मिटा देंगे, तुम्हारी चर्चा ही बन्द कर देंगे। उसी के लिये वे प्रयत्न करते हैं। बालू के मैदानों में एक बहुत बड़ा जन्तु होता है, व्याधा जब उसे मारने आता है, तो वह अपने मुँह को बालू में छिपा लेता है। उसका धड़ बाहर दिखाई देता रहता है। वह विश्वास कर लेता है; कि जब मैं व्याधा को नहीं देख रहा हूँ, तो व्याधा भी मुझे नहीं देख रहा होगा, किन्तु व्याधा तो अप्रमत्त है, वह बाण छोड़ कर उसे मार डालता है। चाहे 'अस्ति' रूप से हो या 'नास्ति' रूप से हो, खटका सभी को लगा है। आस्तिक नास्तिक दोनों ही प्रकार के दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय ईश्वर ही है। एक सिद्ध करता है, वह है, एक कहता है नहीं है। भगवान् दोनों से पृथक् बैठकर हँसते रहते हैं। नास्ति वाले की जिह्वा नहीं काट लेते। उसकी वाणी का निरोध नहीं कर देते। अस्ति वाले को सहस्र जिह्वा नहीं लगा देते, उसे आकाश से ऊँचा नहीं उठा देते। दोनों उनके ही विषय में सोचते विचारते हैं, इसीलिये फल भी दोनों को समान होता है। दोनों की बुद्धि विचार से तीक्ष्ण हो जाती है। अन्तर इतना ही होता है आस्ति वाले को 'रस' की प्राप्ति होती है।

नास्ति वाला रस से वंचित रहता है। विदुरजी तो रसिक ठहरे! वे तो रसलोलुप मधुप ही हैं। इसीलिये वे मैत्रेयजी से बोले—"हे दीन बन्धो! गुरुदेव! आप हमें जगत् की कथाओं में से सारभूता, परम सुखदायिनी भगवान् वासुदेव की कथाओं को चुन-चुन कर उसी प्रकार सुनाइये जैसे माली सुन्दर गजरे में चुन-चुन कर सुन्दर सुगन्धित फूलों को गुंफित करता है। जैसे मधुप सभी पुष्पों से सारभूत मधु को एकत्रित करके उसे ही ग्रहण करता है। जैसे हंस दूध पानी में से दूध ही दूध को पीता है। जैसे जठराग्नि सम्पूर्ण अन्न में से सारभूत रस को ग्रहण करके फुक्कस को नीचे फेंक देती है। जैसे धान कूटने का यन्त्र धान की मिगी को पृथक् करके भूसी को अलग कर देता है, उसी प्रकार आप सभी कथाओं में से सारकथा—केवल कृष्ण-कथा हमें सुनावें।"

विदुरजी के प्रश्न सुनकर मैत्रेयजी हँसे और बोले—"विदुर जी! आपको जो पूछना हो सभी मुझे बताइये, क्या-क्या पूछेंगे?"

विदुरजी बोले—"भगवन्! मुझे तो भक्ति को बढ़ाने वाले, कानों को अत्यन्त प्रिय लगने वाले भगवत् चरित्र सुनने हैं। मैं तो समझता हूँ, इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के एक मात्र कारण वे कंस-निपूदन भगवान् वासुदेव ही हैं। वे नाना अवतार लेकर जो-जो चरित्र करते हैं, ब्रह्मस्वरूप धारण करके कल्प के आदि में जिस प्रकार सृष्टि करते हैं, विष्णु रूप धारण करके उस बनाई हुई सृष्टि का जैसे पालन करते हैं और और अन्त में रुद्र रूप से जैसे उसका संहार करते हैं—वे सभी विषय आप मुझे समझावें। भगवान् तो अद्वितीय हैं। किस

प्रकार वे अनेक रूप धारण करते हैं ? इन सब को संक्षेप में सुनाकर फिर हमें भगवान् के अवतार की कथायें सुनावें। किस प्रकार वे गौ, ब्राह्मण और साधु पुरुषों की रक्षा के लिये अनेक अवतार धारण करते हैं, उनमें क्या-क्या चरित्र करते हैं ?"

इस पर मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी ! बार-बार वही बातें वही अवतारों की कथा आप क्यों पूछते हैं ? क्या आपने कभी पहले अवतार कथायें सुनी नहीं ? आप साक्षात् भगवान् व्यास देव के पुत्र ही हैं। समस्त कथाओं के सागर तो वे ऋषियों के अग्रणी भगवान् सत्यवतीनन्दन ही हैं। उन्होंने तो महाभारत जैसे पंचम वेद की रचना की है। अनेक बार सुनने पर भी आप मुझसे वही प्रश्न कर रहे हैं, यह क्या बात है ?"

इस पर विदुरजी बोले—"भगवन् ! आप सत्य कहते हैं। मैंने भगवत् चरित्र अनेकों बार सुने हैं। किन्तु आप से सत्य कहता हूँ; उन पुण्यश्लोक शिखामणि भगवान् वासुदेव के पवित्र चरित्रों को सुनते-सुनते मेरा मन भरता नहीं। हाँ, मैंने अपने पिता भगवान् व्यास देव के मुख से भगवान् की कथाओं के रस का आस्वादन किया है। किन्तु वह इसी प्रकार किया है, जिस तरह मूंगफली, बादाम, काजू, पिस्ता, अखरोट के फलों का आस्वादन किया जाता है। पहिले पत्थर से उन्हें फोड़ो, उनकी मिगी अलग करो छिलका उतारो, भूनो तब खाओ। इस कार्य में बड़ा श्रम करना पड़ता है। भगवन् ! हम तो सारग्राही हैं। व्यास जी ने तो ऊँच-नीच वर्णों के धर्मों का बार-बार कथन किया है ! उनमें कहीं प्रसंगवश भगवत् चरित्र भी आ गये हैं, तो

उनका भी वर्णन किया है । उनकी धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कथाओं में से मुझे प्रसंगानुसार आई हुई भगवत् कथाओं को छोड़ कर और बातें रुचिकर प्रतीत नहीं होतीं। ये सब क्षुद्र सुख हैं। यह करो तो यह फल मिलें। उस देवी देवता को पूजो, तो वह यह आशीर्वाद दें, इस कर्म से इतने दिन स्वर्ग में वास हो, इतनी अप्सरायें मिलें इतनी भोग सामिग्रियाँ मिलें, ऐसा सुन्दर विमान मिलें। ये बातें सुनते-सुनते मेरा चित्त ऊब गया है, मुझे तो वे ही कथा अत्यन्त प्रिय हैं, जिनके सुनने मात्र से ही यह संसारी बन्धन सदा के लिए छूट जाता है । मनुष्य अन्य कोई भी साधन न करे, केवल प्रेम के साथ निरन्तर कृष्ण कथा ही श्रवण करता रहे, तो उसे इसी एक कार्य से समस्त धर्मों के फल, समस्त क्रियाओं का पुण्य तथा समस्त साधनों का सार प्राप्त हो सकता है।

इस पर मैत्रेयजी बोले—तो क्या भगवान् व्यास ने महा भारत की रचना केवल संसारी और स्वर्गादि सुखों में फँसे रहने के लिये ही की है ?"

इस पर शीघ्रता से विदुरजी बोले—"नहीं-नहीं, भगवन् यह मेरा अभिप्राय नहीं है । मेरे पिता भगवान् व्यासदेव तो सर्वज्ञ हैं । उनको तो सभी प्रकार के अधिकारियों का उपकार करना है । किसी को अरुन्धती का सूक्ष्म तारा दिखाना हो, तो पहिले समस्त आकाश के तारों को दिखावेंगे फिर उन सबसे सप्तर्षियों के तारे को पृथक् करेंगे। उनमें भी आगे के चार तारों को, उनमें भी वशिष्ठ जी के तारे को दिखाकर तब अन्त में कहेंगे—'उनकी बगल में जो छोटा सा चमकीला तारा है, वही अरुन्धती का तारा है।' यहाँ तार-

तम्य से सूक्ष्म वस्तु का ज्ञान कराया है। इसी प्रकार भगवान् व्यासदेव ने पहिले इन संसारी और स्वर्गीय भोगों के सुखों का वर्णन करते-करते अन्त में यह बता दिया है, कि इन सुखों से भी सर्वश्रेष्ठ सुख श्री श्यामसुन्दर की शरण में जाने से ही प्राप्त होता है। आपके प्रिय सखा भगवान् व्यास देव का महाभारत रचने का मुख्य उद्देश्य भगवान् के चरित्रों का वर्णन करना ही है। किन्तु उन्होंने उस बात को कर्म में आसक्त लोगों को समझाने के लिये इतना घुमा-फिरा कर कहा है, कि साधारण बुद्धि वाले, तो समझते हैं—बस पुत्र पैदा करना और देव ऋषि और पितरों का पूजन करते रहना यही परम पुरुषार्थ है। वास्तव में उन्होंने तो विषय सुख का वर्णन करते-करते मनुष्यों की बुद्धि को भगवत् गुणानुवाद की ओर लगाने का ही प्रयत्न किया है। जहाँ श्रद्धालु पुरुषों की भगवत् कथा में रुचि हुई, तहाँ विषयों से विरक्त तो स्वयं ही हो जाती है। विषयों से विरक्त होने पर कथा सुनते-सुनते भगवत् चरणारविन्दों में अनुराग बढ़ने लगता है। उस बढ़े एहु अनुराग से ही मनुष्य के सभी दुःखों का अन्त हो जाता है अतः मुझे आप वे ही मधुरातिमधुर भगवत् कथायें सुनावें।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन ! इतना कह कर श्रीविदुर जी चुप हो गये और भगवान् मैत्रेयजी की ओर लालसा भरी दृष्टि से देखते हुए उनके मुख से निसृत अमृत का पान करने के लिये उत्सुकता प्रकट करने लगे।"

छप्पय

नित झारू जहँ लगे न कूरो करकट होवे।
त्यों मन के सब मैल कथा जल तिनकूँ धोवे॥
सुनिके सिंह दहाड़ शशक गीदड़ भगि जावें।
कामादिक सब भगें कथाते हिय हरि आवें॥
शोचनीय ते पुरुष अति, हरि चर्चा ते जे बिमुख।
कथा श्रवन कीर्तन बिना, जोव लहहिँ नहि शान्ति सुख॥

विदुरजी के प्रश्नों का उत्तर

(१२३)

स एवं भगवान् पृष्टः क्षत्त्रा कौषारविर्मुनिः ।
पुंसां निःश्रेयसार्थेन तमाह बहु मानयन् ॥*

(श्री भा० ३ स्क ५ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

सुनी विदुर की बात बहुत मुनि हिय महँ हरषे ।
रोमांचित तनु भयो नयन वर्षा सम बरषे ॥
विदुर धन्य तुम धन्य धर्म हो नर तनुधारी ।
पावन, कुरु कुल करयो व्यास सुत दृढ़ व्रतधारी ॥
पर उपकार विचारि हिय, प्रश्न करयो पावन परम ।
जस हरि सिखयो तस कहहुँ, परम धरम को सुनु मरम ॥

जिसके कुल, शील, विद्या, बुद्धि, वर्ण तथा वृत्ति के अनुरूप जो कार्य होता है, विद्वान् लोग उनकी सराहना उसकी परम्परा को लेकर करते हैं कि यह कार्य आपके परम्परागत गुण के

---

* श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! जब विदुरजी ने महामुनि मैत्रेयजी से इस प्रकार पूछा, तो वे उनका बहुत सम्मान करते हुए, समस्त लोकों के कल्याण के निमित्त इस प्रकार कहने लगे।"

अनुरूप ही है। किन्तु जो शील, सदाचार और कुलागत आचार को त्याग कर व्यवहार करते हैं, तो सब नाक भौं सिकोड़ कर करते हैं—देखो, यह उस पावन कुल में कैसा कुपूत पैदा हुआ? विदुरजी यद्यपि दासी पुत्र थे, किन्तु भगवान व्यास के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। यद्यपि वे शूद्र योनि में थे, फिर भी अपने शील, सदाचार विद्वत्ता तथा नीति निपुणता इन सभी गुणों के कारण सभी के सम्मान भाजन थे। बड़े-बड़े विद्वान् उनका आदर करते, उनकी बातों को प्रामाणिक मानते। आज जब भगवान् मैत्रेय के समीप भी आकर उन्होंने ऐसे गम्भीर प्रश्न किये, तब तो मुनि मैत्रेयजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहने लगे।

श्रीमैत्रेयजी बोले—"महाभाग, विदुरजी! हम आपकी पहिले बड़ी प्रशंसा सुना करते थे, किन्तु आज आपके प्रश्नों को सुनकर हमारा रोम-रोम खिल उठा। कैसी सरलता से, कितने गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण प्रश्न किये हैं आपने? क्यों नहीं, यह आपके अनुरूप ही है। कारण का गुण कार्य में आता ही है। पिता की सम्पत्ति का पुत्र अधिकारी होता ही है। आम के वृक्ष पर आम का फल लगता ही है। आप भगवान् व्यासदेव के वीर्य से उत्पन्न हुए हैं। आपने अपना सर्वस्व त्याग कर अखिल पति अच्युत का अनन्य आश्रय ग्रहण किया है। आपके द्वारा ऐसे प्रश्नों का किया जाना कोई विचित्र बात नहीं। आपके कुल, शील और विद्वत्ता के अनुरूप ही ये प्रश्न हैं।"

अत्यन्त ही सकुचाते हुए विदुरजी ने कहा—"गुरुजन तो अधमों पर भी अपार कृपा करते हैं। साधु पुरुष दूसरों के

दोषों को देखते ही नहीं, स्नेह में अवगुण दृष्टिगोचर नहीं होते। मैं शूद्रा माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ हीन वर्ण का हूँ। मेरे भाई भतीजों ने परित्याग कर दिया है। केवल आपकी कृपा का अवलम्ब लेकर ही मैं कुछ सीखने के लिये आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ। आप मेरे ऊपर कृपा करें, मेरे प्रश्नों का उत्तर दें।"

यह सुनकर आनन्द में विभोर हुए मुनिवर मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी ! कैसी भूली-भूली बातें कर रहे हैं आप? क्या आप अपने आपको भूल गये? आप क्या साधारण मनुष्य हैं? आप तो समस्त प्रजा को दंड देने वाले संयमनी पति साक्षात् भगवान् धर्मराज हैं। आपने लोक कल्याण के निमित्त माण्डव्य मुनि के शाप को स्वीकार करके महाराज पांडु की दासी के गर्भ से, भगवान् के वीर्य से जन्म धारण किया है। आपको क्या शंका हो सकती है? आप तो समस्त शंकाओं का स्वतः ही समाधान करने में समर्थ हैं? यह तो आप उपचार से लोक कल्याण के निमित्त प्रश्न कर रहे हैं। मेरा महत्व बढ़ा रहे हैं। मुझे सम्मान प्रदान कर रहे हैं। इस सम्वाद द्वारा मेरी कीर्ति को अक्षुण्ण बना रहे हैं आपकी भक्ति के विषय में जो कहा जाय वही थोड़ा है। सदा से हम यही सुनते आये हैं कि भक्त भगवान् का भजन किया करते हैं, अन्त समय में ऋषि, मुनि भी भगवत् स्मरण करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु आपके सम्बन्ध में हमने ये बातें विपरीत ही पाईं। भगवान् स्वयं आपका सदा स्मरण किया करते हैं। अन्त समय में स्वधाम पधारते समय भगवान् ने आपका ही स्मरण किया और मुझे आज्ञा भी दी, कि मेरे परम भक्त विदुरजी को मेरे इस गुह्याति गुह्य ज्ञान का अवश्य उपदेश

करना। सो श्रीभगवान् ने जो उपदेश मुझे दिया है, उसी के अनुसार में आपके प्रश्नों का उत्तर देता हूँ। आपने प्रधानतया दो प्रश्न किये हैं—एक तो यह कि निरन्तर सुख के लिये प्रयत्न करने पर भी लोगों को दुःख क्यों होता है और दूसरा यह कि निर्गुण भगवान् से यह सगुण संसार क्यों और कैसे होता है? ये प्रश्न यद्यपि गूढ़ हैं, फिर भी मैं बहुत संक्षेप में इनका उत्तर देता हूँ।

यह ठीक है, कि सुख की इच्छा सभी के हृदय में होती है। क्योंकि सुख स्वरूप श्रीहरि के सकाश से ही इस जीव की उत्पत्ति है, किन्तु भ्रम वश यह उस वस्तु की खोज करता है संसारी विषयों में। सुख तो नित्य है। वह इन अनित्य पदार्थों में कहाँ मिलेगा? सुख तो एक रस है। वह इन नित्य परिवर्तन शील, क्षण-क्षण में बदलने वाली वस्तुओं में कैसे मिल सकता है? सुख तो सत्य है। वह असत् पदार्थों का आश्रय कैसे कर सकता है? सुख की आशा से श्रम तो सभी करते हैं, किन्तु वह श्रम उस वस्तु में आशा रख कर करते हैं, जिसमें वह है नहीं। आप आक के वृक्ष को खूब सींचे, नित्य पानी दें, कि इसमें मधुर फल लगेंगे, जो हमारी जिह्वा को तृप्त करेंगे। आप के सींचने से यह बढ़ेगा, फूल भी आवेंगे, आम के समान देखने में सुन्दर फल भी लगेंगे, किन्तु पक कर जब वे फूटेंगे, तो उनमें रस के स्थान में रुई निकलेगी। अन्त में सब श्रम व्यर्थ हो जायगा। जिस आशा से इतनी सेवा की थी वह निष्फल हो जायगी। सूआ सेमर को इसी आशा से सेता है। अन्त में उसे चोंच मारने पर निराश ही होना पड़ता है। जाना है आपको पूर्व समुद्र में, किन्तु पश्चिम समुद्र की सड़क को पकड़ कर आप चाहें जितना चलें, पूर्व समुद्र पर नहीं पहुँच सकते।

बबूर के वृक्ष को बोकर आप आशा करें, कि आम के फल इसमें लग जायँ—असम्भव है। उसमें तो काँटे ही लगेंगे। कुतिया को खिला-पिलाकर आप मोटा करें और आशा करें कि बच्चा देने पर यह हमें कामधेनु के समान सुन्दर स्वादिष्ट दूध पिलावेगी, तो आप की आशा और सेवा दोनों व्यर्थ होंगी। वह बच्चा तो देगी, दूध होगा, किन्तु वह आपके काम का न होगा कामधेनु के समान स्वादिष्ट न होगा। उससे कूकर की तृप्ति हो सकती है, मनुष्य की नहीं। कंकड़ की खानि को खोदने पर उसमें से हीरे कैसे निकल सकते हैं? कितना भी श्रम करें उनमें से कंकड़ ही निकलेंगे। पाप से उत्पन्न हुई सन्तान से आप आशा करें, कि यह सदाचारी हो, तो आपकी आशा व्यर्थ है। व्यापारी से आप यह चाहें, कि वह निस्वार्थ प्रेम करेगा, तो आपकी भूल है। जब तक जीव इन तड़कीले भड़कीले विषय पदार्थों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करेगा, तब तक न तो उसके दुःखों की ही निवृत्ति हो सकती है और न शाश्वत सुख ही प्राप्त हो सकते हैं।"

इस पर श्रीविदुरजी ने कहा—"प्रभो! यह बात तो हमारी समझ में नहीं आई। सभी धन प्राप्ति के लिये व्यस्त बने रहते हैं। बिना धन के संसार में कैसे काम चल सकता है? सुख तो धन से मिलता है।"

इस पर हँसते हुए श्रीमैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! आप धन किसे कहते हैं?"

सरलता से विदुरजी बोले—"धन, यही रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, अन्न, वस्त्र, मणि, माणिक्य।"

मैत्रेयजी बोले—"अच्छा, मान लो हम आपको दूर

सोना, चाँदी, रुपया, पैसा दे दें किन्तु जल न दें, तो आप सुखी हो जायँगे ?"

हँसकर विदुरजी बोले—"सो कैसे होगा, महाराज! जल के बिना तो जीवन ही न रहेगा।"

मैत्रेयजी बोले—"अच्छा जल दे दें, हवा न दें तो ?"

तो क्या महाराज, कुछ क्षणों में ही, 'रामनाम सत्य है सत्य बोले गत्य' हो जायगी—विदुरजी ने दृढ़ता से कहा।

तब मैत्रेयजी बोले—"तब रुपया, पैसा, सोना, चाँदी से तो वायु जल—ये ही श्रेष्ठ हुए ?"

हाँ महाराज! हुए तो सही; किन्तु रुपये पैसे वाला सभी वस्तु को सरलता से प्राप्त करके सुखी हो सकता है ?" विदुरजी बोले।

मैत्रेयजी मुस्कराये और बोले—"विदुरजी! कोई रुपये पैसे वाला आपने आज तक सुखी देखा है ?"

विदुरजी यह सुनकर चक्कर में पड़ गये। कुछ देर मे बोले—"नहीं!" इस पर मैत्रेयजी स्वयं ही कहने लगे—'महा-भाग! यह लोगों का भ्रम है। भिखारी समझता है—किसान सुखी है जिसके द्वार पर हमें रोज भीख मांगने जाना पड़ता है। किसान सोचता है—महाजन सुखी है जो हमें कर्ज देता है। छोटा महाजन सोचता है—बड़े व्यापारी सुखी हैं जिनको रोज लाखों की आमदनी होती है। बड़ा व्यापारी सोचता है—मण्डलीक राजा सुखी है जिसके द्वार पर बिना परिश्रम के ही छोटे-छोटे भूमि-पति कर देने और प्रणाम करने नित्य आते हैं। मण्डलीक सोचता है - सम्राट् सुखी है जिसकी देहली पर हम जैसे सैकड़ों मण्डलीक नाक रगड़ते रहते हैं। सम्राट् सोचता

है—चक्रवर्ती सुखी है, जिसकी सम्पूर्ण पृथ्वी पर आज्ञा मानी जाती है। चक्रवर्ती सोचता है—स्वर्ग के देवता सुखी हैं, जो न कभी बूढ़े होते हैं न बीमार, जिनके भोगने को सदा यौवन से मतवाली अप्सरायें मिलती हैं, पीने को स्वर्गीय सुधा, पहिनने को नन्दन कानन के पुष्पों के हार। स्वर्गीय देवता सोचते हैं—इन्द्र सुखी हैं, जो तीनों लोकों के और हमारे स्वामी हैं, जिनके भोगों की कोई सीमा नहीं, चाहें जितना भोग करें, असंख्यों अप्सरायें जिनके संकेत पर नाचती हैं। इन्द्र सोचता है—वृहस्पतिजी सुखी हैं, जिनके सामने मैं भी हाथ जोड़े खड़ा रहता हूँ। वृहस्पतिजी सोचते हैं—मनु सुखी हैं, जिनके शासन में हम रहते हैं। मनु सोचते हैं—ब्रह्मा सुखी हैं जिनकी सेवा में असंख्यों मनु, इन्द्र, प्रजापति लगे रहते हैं। ब्रह्माजी कहते हैं—हम भी क्या सुखी, जहाँ सौ वर्ष हुए कि हमें भी डेरा डंडा उठाकर भागना पड़ेगा।

यदि रुपये पैसे ऐश्वर्य में ही सुख होता, तो ये लोग सब के सब सुखी होने चाहिये। जिनके पास जितना ही अधिक धन होगा, उसकी उतनी ही बढ़ी हुई तृष्णा होगी। जिनकी जितनी ही बढ़ी तृष्णा होगी, वह उतना ही अधिक चिन्तित और व्यग्र होगा। जो जितना ही चिन्तित और व्यग्र होगा वह उतना ही अधिक दुखी होगा। धन से भोग जरूर मिलते हैं, किन्तु भोगों में शान्ति नहीं। जितने ही अधिक भोग भोगोगे उतनी ही अधिक अशान्ति बढ़ेगी, अशान्ति ही दुःख की मूल है।

विदुरजी बोले—"फिर महाराज, ये लोग धन के लिये इतने व्यग्र क्यों बने रहते हैं? क्यों एक सगा भाई दूसरे

सहोदर भाई का शत्रु बन जाता है ? क्यों सभी इसी के लिये व्यग्र बने रहते हैं ?"

मैत्रेयजी बोले—"महाराज ! यह अन्ध परम्परा चल पड़ी है। हजारों अन्धों का झुण्ड चल पड़ा है, एक कहता है—कमल-नयनजी ! किधर रास्ता है ? दूसरा कहता है—खर्जाव लोचनजी, सीधा है, चले आइये। इस प्रकार एक दूसरे के पीछे नेत्रहीन चल पड़ते हैं। अगला कुएँ में गिरता है तो दूसरा पूछता है—नयनसुखजी, क्या है ? काहे का धमाका हुआ ? वह कुएँ में से कहता है—बड़ा आनन्द है पङ्कजाक्षजी, मैंने एक शिकार मारा है। बस धड़ाम-धड़ाम उसी में सब गिरते जाते हैं। इसी तरह वह अपने से बड़े को देख कर वह उससे भी बड़े को देख कर मृगतृष्णा में दौड़ रहे हैं। सच्चा सुख तो श्यामसुन्दर की शरण में जाने से ही मिलेगा। विषयों की आसक्ति को छोड़ कर विश्वम्भर में आसक्ति करने से ही समस्त दुःखों का अन्त हो सकेगा। अनित्य पदार्थों के मोह को छोड़ कर नित्यानन्द स्वरूप सच्चिदानन्द घन श्रीनन्दनन्दन के पाद पद्मों में जब प्रेम करेगा, तभी उसे शाश्वती शान्ति की प्राप्ति हो सकेगी। विदुरजी, विषयों में सुख नहीं, शान्ति नहीं, तृप्ति नहीं। वे तो दुःख, अशान्ति और अतृप्ति को ही देने वाले हैं। इसलिये जिन्हें यथार्थ सुख की अभिलाषा हो, उन्हें विषयों का मोह छोड़ कर भगवान् की शरण लेनी चाहिये, तभी यथार्थ प्राप्य पदार्थ की प्राप्ति हो सकती है। यह संक्षेप में मैंने आपके प्रथम प्रश्न का उत्तर दिया। अब दूसरे सृष्टि विषय के प्रश्न का भी संक्षेप में उत्तर देता हूँ। इसे आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"ऋषियो !

इसके अनन्तर भगवान् मैत्रेयजी ने विदुरजी को सृष्टि विषयक ज्ञान समझाया। उसका प्रसंगानुसार मैं इकट्ठा ही वर्णन करूँगा। यहाँ इस भागवती कथा प्रसंग में तो उसका सार बता कर भगवत् अवतारों की कथाओं का ही वर्णन मैं करूँगा। आप लोग कुछ और न समझें।" इतना कह कर सूतजी आगे का प्रसंग कहने को उद्यत हुये।

छप्पय

खोजें जे सुख विषय वासना महँ ते जड़मति।
जग के चंचल विषय भोग तें रोग बढ़हिं अति।
सूआ सेमरि सेइ अन्त महँ सो पछितावे।
रोपे वृक्ष बबूर आम फल कैसे खावे॥
दुःख नाश सुख जे चहहिँ, विषवत् विषयनि कूँ तजहिँ।
है अनन्य अखिलेश कूँ, सर्व भाव तें नित भजहिँ॥

विदुरजी की माया विषयक शंका

(१२४)

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः ।
लीलया चापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ॥
क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिपान्यतः ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः ॥*
(श्री भा० ३ स्क० ७ अ० २, ३ श्लो०)

छप्पय

नट नागर की नाट्य भूमि जा जगकूँ जानो ।
जहँ दृष्टि मन जाहि ताहि सब माया मानो ॥
लीला तें गुण कर्म गहें पुनि विहरें तामें ।
लीला ललित ललाम करहिँ बहु तनु धरि जामें ॥
बालकवत् क्रीड़ा करहिँ, हर्ष, शोक इच्छा रहित ।
कटहिँ जगत बन्धन तुरत, सुनहिँ चरित श्रद्धा सहित ॥

एक प्रश्न को बार-बार कहने सुनने से वह स्मरण हो जाता है। किसी विषय की पुनः-पुनः आवृत्ति का ही नाम अभ्यास है। यदि इस जगत् के पदार्थों की परिवर्तन शीलता, अस्थिरता

* महामुनि मैत्रेयजी से विदुरजी शंका करते हैं—"ब्रह्मन् ! आपने जो भगवान् के साथ गुण क्रिया का सम्बन्ध बताया है, वह केवल

और अनित्यता का बोध हो जाय, तो जीव की इन वैषयिक पदार्थों से आसक्ति छूट जाय। कारण कि आसक्ति ही बन्धन का हेतु है। इसलिये समस्त शास्त्र पहिले सृष्टि क्रम का वर्णन करके इस सृष्टि के मूल में नित्य रूप से स्थित उन सर्वेश्वर श्रीहरिका ही बोध कराते हैं।

दुःख का हेतु बताकर अब मैत्रेयजी विदुरजी से सृष्टि का क्रम बताते हैं। उन्होंने कहा—"विदुरजी! सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्ममय ही था। एकमात्र श्रीहरि ही हरि थे। माया, अहंकार से रहित वे ही श्रीहरि थे। फिर उन्होंने अपनी सद् असद् रूप विलक्षण मायाशक्ति का आश्रय करके इस विश्व ब्रह्मांड की रचना की। त्रिगुणमयी माया में माया पतिने अपने अंश भूत पुरुष रूप से चेतन रूप बीज को स्थापित किया। कहीं से काल भी आगया। वह तो जीव के साथ बँधा ही है। बस, गर्भिणी माया ने महत्तत्व रूपी पुत्र को उत्पन्न किया। पुत्र ही अपने सदृश पैदा करके पिता बन जाता है, महत्तत्व ने एक पुत्र अहंतत्व पैदा किया। यही कार्य, कारण और कर्त्ता रूप होने से बहुत सी सन्तानें पैदा करने वाला हुआ। पंचभूत, दस इन्द्रियाँ, मन तथा इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव, तन्मात्रायें ये सब उत्पन्न हुईं। इसी ने अपने तीन रूप बनाकर त्रिगुणात्मक सृष्टि

चिन्मात्र निर्विकार निर्गुण ब्रह्म के साथ लीला से ही रही कैसे सम्भव हो सकता है? आप कहेंगे कि बालकों की क्रीड़ा की भाँति। किन्तु बालक का खेलने में जो प्रयत्न देखा जाता है, वह तो उसकी कामना और दूसरों के साथ खेलने की इच्छा से होता है, किन्तु भगवान् तो स्वतः तृप्त, दूसरों से सदा सम्बन्ध रहित तथा अद्वितीय है, उनके सम्बन्ध में क्रीड़ा की कामना कैसे सम्भव हो सकती है?"

की रचना की। ये जो अधिष्ठातृ देव हैं, सभी विष्णु भगवान् की कलायें हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न होने से ये अपनी-अपनी ढपली बजाकर अपना-अपना पृथक्-पृथक् राग अलापने लगे। बिना संगठन के रचना रूपी क्रिया करने में असमर्थ, वे सब देवता भगवान् की शरण में गये। उनकी हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे। भगवान् तो एक से बहुत होने को चाह ही रहे थे। वे काल शक्ति का आश्रय लेकर तेईसों तत्वों में अन्तर्यामी रूप से घुस गये। बोल सर्वान्तर्यामी भगवान की जय! गाड़ी चलने लगी, संसार चक्र घूमने लगा। बन्द हुई सृष्टि फिर से आरम्भ हुई। क्योंकि उन तत्वों में घुसते ही उनमें जो कार्य करने की क्रिया शक्ति सोई थी, वह जाग्रत हो गयी। वे तत्व हनुमान की तरह थे, कि जब तक उन्हें कोई बोध न कराये कुछ कर ही न सकें। अब सब ने संगठन करके, अपने-अपने अंश को एकत्रित करके मिल जुलकर विश्वरचना करने वाले विराट् पुरुप को उत्पन्न किया। उसमें असख्यों जीव उसी तरह भरे थे, जैसे गूलर के फल में भिनगे भरे रहते हैं। वह विराट् पुरुप कच्चे अंडे की भाँति उत्पन्न हुआ था. इसलिये दिव्य हजारों वर्ष पकने को पानी में पड़ा रहा। पकने पर उसके मुख, आँख, कान, नाक ये सब हो गये। वह फूट गया। उन सब स्थानों में ये देवता, इन्द्रिय और अपने-अपने विषयों को साथ लेकर अपना-अपना अधिकार जमाकर बैठ गये। उसी विराट् रूपी अंडे से चौदह भुवन तीन लोक उत्पन्न हो गये। वेद, वर्ण, आश्रम ये सभी उत्पन्न हुए। सब वर्णों ने उत्पन्न होकर अपनी-अपनी वृत्ति स्वीकार करली।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! आप तो बड़ी जल्दी कर गये?"

इस पर हँसकर सूतजी बोले—"महाराज, यह विषय है ही इतना गहन कि इस भागवती कथा में इसका विस्तार करने से कथा का स्वारस्थ हो चला जायगा। फिर आपही सोचें, संक्षेप से न कहकर विस्तार करूँ, तो इसके विस्तार का तो कोई अन्त ही नहीं। काल, कर्म और स्वभाव से युक्त होकर भगवान् जो क्रीड़ायें करते हैं तथा अपनी योग माया के प्रभाव को प्रकट करने वाले इस विराट् पुरुष के रूपका यथार्थ वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है ? इसलिये यहाँ तो कथा की संगति जोड़ने का इतना ही पर्याप्त है, फिर जल सृष्टि का ही वर्णन करेंगे, तब देखा जायगा। इस समय तो आप भगवान् के अवतार कथा का ही श्रवण करें। कर्णों की सार्थकता कथा श्रवण में ही है।"

शौनकजी बोले—"अच्छी बात है, सूतजी ! हाँ, तो फिर, विदुरजी से मैत्रेयजी ने क्या प्रश्न किया ?"

इस पर सूतजी कहने लगे—"मेरे गुरुदेव ने जो महाराज परीक्षित् को मेरे सम्मुख विदुर मैत्रेय सम्वाद वर्णन किया था, उसका सारातिसार तत्व मैं आपके सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ। आप इस गूढ़ रहस्य को समाहित चित्त से श्रवण करें।"

जब विदुरजी ने सुना कि भगवान् अपनी माया का आश्रय लेकर निर्गुण होकर भी काल कर्म को स्वीकार करके साक्षात् रचना रूपी क्रिया में प्रवृत्त हो गये, तो उन्होंने शंका की। वे मैत्रेय मुनि से बोले—"प्रभो ! यह बात मेरी समझ में नहीं आई। आप कहते हैं भगवान् स्वतः तृप्त हैं। उन्हें अपने आनन्द सुख के लिये किसी अन्य सामग्री की अपेक्षा नहीं। वे इन मायिक गुणों से सदा रहित हैं उनमें जड़ता का लेश भी नहीं,

शुद्ध चैतन्य घन स्वरूप हैं। विकार की उनके सम्बन्ध में कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे निर्विकार, निःसंग, निर्गुण और अक्रिय हैं। फिर उनका सम्बन्ध इन नाशवान्, परिवर्तन शील मायिक गुणों के साथ कैसे हो सकता है ?"

इस पर मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी ! अब यह 'कैसे' हो सकता है, इस 'कैसे' का क्या उत्तर ? उनकी इच्छा ! बालक है, जब मौज आती है अपने आनन्द के लिये खिलौने से खेलने लगता है। यह बना, वह बना, बाग लगा, हाथी बना, घोड़ा बना। इच्छा हुई तब तक खेले, फिर तोड़कर बिगाड़ा, दूध पिया, सो गये। खेल है, इसी प्रकार भगवान् की लीला है। इसमें कारण क्या बतायें ?"

यह सुनकर विदुरजी बोले—"नहीं महाराज ! यह नहीं हो सकता। भगवान् बालक वत् क्रीड़ा करें, तो वे अकर्ता निरीह और संकल्प रहित नहीं हो सकते। बालक के मन में पहिले खेलने की इच्छा उत्पन्न होती है, खेल किसी साधन से होता है, इसलिये वह खिलौने आदि साधन एकत्रित करता है। अपने साथियों को खेलने को एकत्रित करता है। खेल से पूर्व उसे आनन्द नहीं था। सामग्री के जुट जाने से खेल होने पर उसे आनन्द की उपलब्धि होती है। बिना कामना से बच्चे के हृदय में खेलने की इच्छा और उसके लिये प्रयत्नवान् होना बन नहीं सकता। उस आनन्द के लिये बाह्य साधन जुटाने पड़ते हैं। भगवान् तो सदा अपने आप में ही मग्न रहते हैं। आत्मा में ही रमण करने के कारण वे आत्माराम कहलाते हैं। उन्हें अपनी तृप्ति के लिये साधनों की अपेक्षा नहीं। वे अद्वितीय, सभी सम्बन्धों से रहित, निरालम्ब हैं। वे लीला के लिये इस

सृष्टि रूपी जंजाल में क्यों पड़ने लगे ? यह मानी हुई बात है कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और संहार बिना किसी हेतु के हो नहीं सकते। आप यह भी नहीं कह सकते कि माया में फँस कर वे करने लगते हैं, क्योंकि भगवान् तो अखण्ड ज्ञान स्वरूप हैं। उनके ज्ञान का लोप देश, काल अवस्था आदि किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता। फिर उन्होंने जान बूझ कर इस बहु-रूपिणी माया का आश्रय लिया ही क्यों ? यदि वे माया का आश्रय लेते ही हैं, तो उन्हें कर्म जन्य क्लेशों की प्राप्ति होनी ही चाहिये, किन्तु भगवान् को यह सब होती नहीं। तब यह क्या गोरख धन्धा है ? मेरी इस शंका का निवारण कीजिये।"

यह सुन कर मैत्रेयजी हँसे और बोले—"विदुरजी ! प्रश्न तो बड़ा सुन्दर किया, किन्तु आप इस प्रश्न के मूल में नहीं पहुँचे। यदि भगवान् काल, कर्म और गुणों के अधीन होकर जीव रूप से ही सही, क्लेश ही पाते तो मनीषी पुरुष माया की कल्पना ही क्यों करते ? अब बताइये आप माया किसे समझते हैं ?"

विदुरजी ने कहा—"माया वही रही जो इस असत् जगत् को सत् के समान दिखावे।"

प्रसन्न हो कर मैत्रेयजी बोले—"बस, अब तो आपने अपनी शंका का स्वतः ही समाधान कर दिया। जब नहीं होते हुए भी जो प्रतीति करावे, तो वह सदा रहने वाले सत्य स्वरूप भगवान् को कैसे मोह सकती है ? उन्हीं के अंश भूत जीव को कैसे दुःख दे सकती है ?"

विदुरजी ने पूछा—"फिर महाराज ! ये संसार में लोग दुःख क्यों उठा रहे हैं ? क्यों दीन दुखी होकर इधर-उधर भटक रहे हैं ?"

मैत्रेयजी बोले—"भक्तवर! यही रोना तो मैं भी रो रहा हूँ। जीव को कभी क्लेश नहीं हुआ भगवान् का अंशभूत उनके आश्रय में रहने वाला जीव सदा सब दुःखों से रहित है। यही माया है जो बिना होवे हुए भी उसकी प्रतीति करावे। हौआ कभी किसी ने देखा है आज तक? किन्तु बच्चे हौआ का नाम सुनकर ही डर जाते हैं। सीप में चाँदी निकली है किसी ने कभी देखा? किन्तु दूर से सीप देख कर सभी को भ्रम हो ही जाता है। टेढ़ी-मेढ़ी सर्प के आकार वाली अन्धेरे में पड़ी रस्सी ने कभी किसी को काटा है? किन्तु उसे देखकर अब तक लोग डरते हैं। खेत में लकड़ी गाड़कर पुरुष जैसे वस्त्र पहिना कर खेत वाले जो मिथ्या पुरुष बना देते हैं, उसने कभी किसी गीदड़, हिरन आदि जानवर को चरने से रोका है? किन्तु जानवर पुरुष के भ्रम से देखते ही भाग जाते हैं। वेग के साथ चलती नौका में तथा तेज दौड़ने वाली सवारी में बैठे हुए बालक समझते हैं, कि उनके साथ किनारे के वृक्ष भी दौड़ रहे हैं, किन्तु कोई वृक्ष अपने स्थान से कभी दौड़ा है? जल में पड़े हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को वायु के द्वारा काँपते देख कर अज्ञानी लोग समझते हैं चन्द्रमा काँप रहा है किन्तु क्या चन्द्रमा में कम्प होता है क्या यह वास्तविक चन्द्र है? केवल जल के काँपने से उसमें मिथ्या प्रतीति होती है। बच्चे चैंया-मैंया करके जोर से घूमते हैं, भ्रामरी नित्य करते हैं, तो सोचते हैं हमारे साथ पृथ्वी भी घूम रही है, वृक्ष भी नृत्य कर रहे हैं, तो क्या यह उनकी धारणा सत्य है? रोग के कारण या आँख में उँगली लगाकर दो सूर्य्य चन्द्र दिखाई देते है, तो क्या वास्तव में दो सूर्य्य चन्द्र हो गये हैं? हिरनों को ज्येष्ठ वैसाख की कड़ी धूप में सूर्य की किरणों के पड़ने से मरुदेश

में चमकती हुई वालू में जल का भ्रम होता है ? उस जल से कभी किसी मृग की प्यास बुझी है ? किन्तु वह भ्रम मृगों को अब तक बना ही है। जिसके पास रुपये आते हैं, वही कहता है मेरे हैं। रुपये कभी किसी के हुए हैं ? किन्तु मेरा-मेरा अभी तक सभी कह कर आसक्ति करते ही हैं। स्वप्न में भूख प्यास लगती है, दुःख होता है, सिर तक कटा हुआ प्रतीत होता है उस समय दुःख भी होता है। जागने पर कभी किसी ने कटा सिर देखा है ? किन्तु स्वप्न में यह भ्रम तो सत्य दिखाई देता ही है। हाथी पकड़ने वाले जो काठ की बनावटी हथिनी बनाकर रख देते हैं और कामी हाथी आसक्त में उसकी ओर बढ़ता है; तो ऐसी हथिनी से किसी हाथी का काम तृप्ति हुई है ? किन्तु हाथियों का भ्रम तो होता ही है। जिस प्रकार इन सब के न होने पर भी उन-उन वस्तुओं की प्रतीति होती है, उसी प्रकार आत्मा में भी सुख-दुःखादि अनात्मा के गुण—बिना हुए हों, होते हुए से दिखाई देते है।

विदुरजी ने कहा—"महाराज, यह भ्रम कब से हुआ ? इसका आदि, अनादि है ?"

यह सुनकर मैत्रेयजी बड़े जोर से हँस पड़े और बोले—"विदुरजी ! अब आप मुझे चक्कर में डालना चाहते हैं। अब मैं इसे आदि कहूँ तो सृष्टि के अन्त में इस भ्रम का भी अन्त हो जाना चाहिये, सो होता नहीं। यदि कहूँ तो आप इसे भगवान् की बराबर का भाई मानेंगे। इसलिये यों ही समझो—यह माया का भाई है।"

विदुरजी बोले—"नहीं, महाराज मैं आपको फंसाने के निमित्त नहीं कह रहा हूँ। माया का भाई या भगवान् का यह

तो चक्कर की सो ही बात रही। फिर माया का ही यथार्थ रूप बताइये।"

मुस्कराकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ? इस बहुरूपिणी माया का यथार्थ रूप क्या बतावें ? ऐसे ही सट्ट-पट्ट है। तुम इस माया के चक्कर को ही छोड़ो।"

विदुरजी बोले—"जाने दीजिये महाराज, इसके रूप रङ्ग से हमें क्या ? इसका चक्कर कैसे छूटे ? यही बताइये।"

मैत्रेयजी बोले—"यदि कर्म करोगे तो यह कभी छूटने की नहीं। कर्म ही इसके फँसाने का जाल है, ज्यों-ज्यों शुभ अशुभ कर्म करोगे, त्यों-त्यों यह बन्धन को कसती जायगी।

विदुरजी ने कहा—"महाराज कर्म किये बिना प्राणी कैसे रह सकते हैं ? एक क्षण भी बिना कर्म किये कोई खाली नहीं बैठ सकता।"

मैत्रेयजी बोले—"कर्म कामना लेकर मत करो। भगवान् के लिये उनकी पूजा, अर्चा, उपासना के लिये ही कर्म करो। इससे भगवान् में ही मन लगाकर उनके ही लिये कर्म करके उनकी ही शरण में जाने से, उनकी ही कृपा से यह माया भ्रम दूर हो सकते हैं। दूसरा इनके हटाने का अन्य कोई उपाय नहीं। प्रपन्न होना—शरणागति प्राप्त करना—आत्म समर्पण करना—सर्वस्व उनको ही समझ कर उनके किंकर बने रहना; यही माया से छूटने का, भ्रम से बचने का उपाय है। देखो, मछुआ जाल डालता है। दूर की मछली जाल में फँस जाती हैं। उसके चरणों के समीप की बच जाती हैं, अतः भगवान् से दूर मत जाओ, उनके चरणों की शरण गहो। कोई कुतिया भौंक रही है, आप उसे जितना बन्द करोगे उतनी और भौंकेगी। आप मालिक के पास चले जाओ, झट पूँछ हिलाकर चुप हो

जायगी। कोई लड़की तुमसे लड़ रही हो, उसके बाप के पास चले जाओ, वह झट सकुचा जायगी। तुम अपने नवविवाहित मित्र की बैठक में न जाकर रसोई में जाकर भोजन माँगो तो तुम्हें रोटी भी न मिलेगी और उलटी चार बातें सुननी पड़ेंगी। रसोई में न जाकर मित्र की बैठक में जाओ और उनका आश्रय लेकर रसोई में आओ, तब रोटी भी मिलेगी और आदर भी। फिर न अपमान सहना पड़ेगा, न कड़ी बातें। इसलिये माया का आश्रय न लेकर मायापति का आश्रय लो। मालिक से मित्रता होने पर यह तो घूँघट मार कर घर में छिप जायगी। भ्रम साला बनकर तुम्हारे सामने लज्जित हो जायगा, फिर उससे तुम चाहे जो कहो, चाहे जैसी गाली दो हँसता ही रहेगा, बुरा न मानेगा। नाता ही ऐसा निकल आया। बोलो कुछ आई समझ में बात ?"

विदुरजी बोले—"हाँ, महाराज ! आ गई समझ में बात। माया के पीछे पड़ना अपने को और अधिक बन्धन मे डालना है। सचमुच में भगवान् अकर्ता निर्लेप और सर्व स्वतन्त्र हैं। जीव परतन्त्र है। जब तक यह भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करेगा, तब तक ऐसा ही भटकता रहेगा। आपने जो स्वप्न के समान भगवान् की माया के आश्रय से, इस जीव के व्यर्थ के क्लेशों का होना बताया है, यह बिल्कुल सत्य बात है। क्योंकि माया के बिना जगत् का अस्तित्व ही नहीं। इसलिये भगवन्! मैं तो समझता हूँ या तो जो आदमी एकदम मूढ़ हैं, जिन्हें खाने पीने के सिवाय परमार्थ का विचार ही नहीं उठता, वे अच्छे हैं या जो पूर्णज्ञानी हैं वे ही सुखी हैं। हम बीच वालों को ही दुःख होता है, जो न इधर हैं न उधर। न बिलकुल मूढ़ ही न ज्ञानी ही। न शुद्ध चावल न दाल, मिले जुले खिचड़ी

के समान हैं। न घोर संसारासक्त हैं न परमार्थ पथ के लगन वाले पथिक ही है, किन्तु उभय भ्रष्ट हैं। यह सब माया, भ्रम मिथ्या विचार हम जैसों को ही चक्कर में फँसाये रहते हैं।

आपके कहने से यह तो मैं समझ गया, कि यह संसारी अनात्म विषय भोगों के पदार्थ, प्रतीत होने पर भी यथार्थ में कुछ नहीं हैं। किन्तु अभी तक मेरा भगवान् मधुसूदन के चरणारविन्दों में प्रेम नहीं बढ़ रहा है। जब तक प्रभु पाद पद्मों में प्रेम उत्पन्न न होगा, तब तक यह मिथ्या प्रतीति बनी ही रहेगी। वह भी आप जैसे संतों की सेवा से ही प्रेम उत्पन्न होकर दूर हो सकती है। सो, अब तो मैंने आपके चरणों की शरण ले ली है। अब तो मेरा उद्धार हो ही जायगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर मैत्रेयजी ने विराट् पुरुष से जो ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई है, उसका वर्णन किया। उसे मैं आगे आपको सुनाऊँगा।"

छप्पय

अन्तःकरण समेत बाह्य करणादिक सबई।
विषयनि तें उपराम होय दुख कटिहहिं तबई॥
माया, मिथ्या ज्ञान अविद्या भ्रम भगि जावे।
होवे ज्ञान यथार्थ प्रतिष्ठा निज पद पावे॥
मायापति मैत्री करहु, माया चरचा त्यागि के।
चतुर चतुर दुलहिन करे, पति लखि जावे भागि के॥

मैत्रेयजी की भागवती परम्परा

(१२५)

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखम्,
महद्‌गतानां विरमाय तस्य।
प्रवर्तये भागवतं पुराणम्।
यदाह साक्षाद् भगवानृषिभ्यः॥
(श्री भा० ३ स्क० ८ अ० २ श्लो०)

छप्पय

कहँ विदुर हे प्रभो! सृष्टि को सार बतावें।
नाना रूप बनाय विश्वपति काहि लुभावें॥
हँसि बोले मुनि, विदुर धन्य कुरुकुल के भूषन।
कहूँ भागवत सुनत दूर हो, सब दुख दूषन॥
संकर्षण भगवन् ने, सनकादिक मुनि सन कही।
तिनतें सांख्यायन सुनी, पूज्य पराशर पुनि लही॥

जल तो एक ही है। भिन्न-भिन्न रंग के पात्रों में रखने से यह देखने में भिन्न-भिन्न रंगवाला सा प्रतीत होता है। कभी-कभी काल के प्रभाव से भी उसके गुणों में भिन्नता आ जाती

छश्रीमैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"हे भगवत् भक्तों में अग्रणी विदुरजी! जो पुरुष इन क्षुद्र सुखों की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े

है। वर्षा में नदी के जल का गुण भिन्न होता है, शरद् में भिन्न और ग्रीष्म में और ही गुण वाला होता है। कभी अन्य द्रव्यों के मिलाने से उसके स्वाद में, गुण में भी भिन्नता आ जाती है। हिम आदि शीतल पानीय द्रव्य मिलाने से ठंडा, सुगन्धित, रस आदि मिलाने से मीठा और सुगन्ध युक्त बन जाता है, किन्तु अपेय पदार्थ न मिलाये जायँ, तो वह सभी अवस्था में हृदय को शीतलता प्रदान करने में, प्यास बुझाने में समर्थ होता है। इसी प्रकार ज्ञान एक है। उसके ग्रहण करने वाले ऋषियों के कारण वर्णन में कुछ भिन्नता हो जाती है, प्रक्रिया में भी कुछ अन्तर सा प्रतीत होने लगता है, किन्तु किसी भी प्रामाणिक मुनि के द्वारा क्यों न कहा गया हो, अज्ञान के नाश करने में तो समर्थ होता ही है। पुराणों के वक्ता बहुत से मुनि हो गये हैं। भगवान् व्यासदेव ने उन सभी की बातों का सार लेकर वर्तमान पुराणों का संग्रह किया है। नहीं तो पुराण अनन्त हैं, असंख्य हैं। एक मत्स्य पुराण को ही साक्षात् भगवान् सप्तर्षियों को प्रलय से लेकर सृष्टि तक हजारों लाखों वर्ष सुनाते रहे। इसी प्रकार श्रीमद्भावत की भी कई परम्परायें हैं। आदि वक्ता तो सबके श्रीमन्नारायण ही हैं। मैत्रेय मुनि की परम्परा दूसरी है। इसीलिये विदुरजी के प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व उन्होंने अपनी ज्ञान परम्परा बताई।

क्लेशों को शिरोधार्य कर लेते हैं, उन्हीं पुरुषों के दुःखों की निवृत्ति के लिए श्रीमद्भागवत पुराण आपके सम्मुख कहता हूँ। जिसका उपदेश पूर्वकाल में शेष रूपधारी साक्षात् श्रीभगवान् ने सनकादि ऋषियों को किया था।"

जब माया सम्बन्धी प्रश्न हो चुका तब विदुरजी ने महा मुनि से सृष्टि विषयक और भी अनेक प्रश्न पूछे। उन्होंने कहा—"मुनिवर! विराट् पुरुष की विभूतियों को आप मुझे बतावें और उनकी सन्तानों का भी वर्णन करें जिससे यह ब्रह्मांड भर गया है। सर्ग, अनुसर्ग, प्रजापति, मनु, मन्वन्तर, इनकी उत्पत्ति, राजाओं और भक्तों के चरित्र, अंडज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज जीवों की उत्पत्ति, तीनों देवों के कार्य, वर्णाश्रम विभाग, भगवत् प्राप्ति के सभी साधन, त्रिवर्ग तथा मोक्ष आदि समस्त विषयों का आप मुझसे वर्णन करें और यह भी बतावें भगवत् प्राप्ति का, उन्हें प्रसन्न करने का सरल सुगम उपाय कौन सा है।"

इस बात को सुनकर मैत्रेयजी हँसे और बोले—"विदुरजी! एक साथ आपने तो इतने प्रश्न कर डाले। मुझसे आप क्या पूछते हैं। स्वतः ही अपनी बुद्धि से इनके उत्तर सोचिये।"

यह सुनकर विदुरजी बोले—"महाराज! आज तक स्वतः बिना गुरु के किसी को ज्ञान हुआ है क्या? संशयों का छेदन तो श्रीगुरु के चरणों में बैठने पर ही होता है। मैं आपका शिष्य हूँ, सेवक हूँ, भृत्य हूँ, दास हूँ, मित्र हूँ, माया से मोहित हूँ। मेरे ऊपर कृपा कीजिये और संसार से भयभीत हुए मुझ अज्ञानी को परमार्थ का उपदेश देकर निर्भय बनाइये। जितने भी दान, धर्म, शुभ कार्य आदि पुण्यप्रद कार्य हैं, वे ज्ञान देकर जीव को अभय करने की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं हैं।"

इस प्रकार विदुर जी के कहने पर हँसते हुए निरभिमान होकर महामुनि मैत्रेयजी उनसे अत्यन्त स्नेह के साथ कहने लगे—"विदुरजी! आप धन्य हैं, जो आपकी प्रवृत्ति इन

पारमार्थिक प्रश्नों के प्रति हुई है। संसार में देखा गया है—लोगों की प्रवृत्ति इन बाह्य विषयों में ही होती है। कुछ मनोरञ्जक बातें, कुछ दूसरों की निन्दा स्तुति, कुछ शृङ्गार की चटपटी चटनी कुछ हँसने-हँसाने वाली व्यर्थ की बातें, ये ही प्यारी लगती हैं। साधारण लोगों की आँखें सुन्दर रूप देखते ही अटक जाती हैं। पर-निंदा सुनते ही कान उसी ओर लग जाते हैं, मन विषय की बातों में बिना प्रयत्न के घुल मिल जाता है और आप यह सब कुछ न करके सृष्टि, स्थिति और परमार्थ परलोक सम्बन्धी चर्चा छेड़ रहे हैं। इसीलिये प्रतीत होता है आप "भागवती कथा के श्रवण करने के यथार्थ अधिकारी हैं। अतः मैं आपसे भागवती कथा कहूँगा। उसी में आपके समस्त प्रश्नों के उत्तर आ जायँगे।"

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"प्रभो ! आपको यह भगवद्-तत्व किनसे प्राप्त हुआ ? आपकी ज्ञान परम्परा किन ऋषि से आरम्भ होती है।"

इस पर मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी 'भागवती कथा' के माने हैं भगवत् सम्बन्धी कथा या भगवत् भक्तों की कथा या भगवान् से सम्बन्ध रखने वाली—उनसे ही परम्परा गत अविच्छिन्न रूप से चली आने वाली—कथा। यह ज्ञान साक्षात् श्रीमन्ना-रायणजी ने ऋषियों को दिया। इसके आदि उपदेशक भगवान् वासुदेव ही हैं।"

तब विदुरजी ने पूछा—"भगवन् ! मुनियों से आपका अभिप्राय किन मुनियों से है ? उन्हें भगवान् ने किस रूप से उपदेश दिया ? आप मेरे पिता भगवान् व्यासदेव की ही परम्परा में हैं या आपकी दूसरी परम्परा है ?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि वोले—"विदुरजी, ज्ञान तो एक ही है। वही व्यासजी का है, वही मेरा है, वे मुझ पर बड़ा स्नेह रखते हैं, किन्तु उनकी परम्परा में और हमारी परम्परा में कुछ अन्तर है। उनकी परम्परा तो इस प्रकार है कि श्रीमन्नारायण ने कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी को उपदेश किया। श्री नारदजी की सेवा से सन्तुष्ट होकर उन्हें अपना प्रिय पुत्र जानकर वही ज्ञान उन्होंने नारदजी को दिया। नारदजी ने वदरीवन में विषाद में बैठे भगवान् बादरायण को जाकर स्वयं इस ज्ञान का उपदेश दिया और व्यासजी ने अपने पुत्र श्री शुक को उस भागवत् ज्ञान को सिखाया। हमारी परम्परा पातालवासी सहस्र फणवाली भगवान् की पाताल में स्थित संकर्पणमयी मूर्ति से है। भगवान् संकर्पण अपनी ही मूर्ति, जिन्हें वेद वासुदेव के नाम से कहकर पुकारते हैं, उन श्रीमन्नारायण की सदा मानसिक पूजा किया करते हैं और उन्हीं के मधुमय, आनन्दमय, अमृतमय नामों का सदा कीर्तन करते रहते हैं। पूरा 'राम' इतना नाम भी नहीं लेते। केवल 'रां-रां-रां-रां' यही जपते रहते हैं। 'म' कहने से ओष्ठ वन्द होंगे, नाम जप में उतनी देर को व्यवधान पड़ेगा, इसलिये वे एकाक्षर रां, इसी महामंत्र का जप करते हैं। मुँह खुला रहने से उनके मुख से जो लार गिरती है वह अमृत की सरिता हो जाती है। नाम जापकों में भगवान् सकर्पण सर्वश्रेष्ठ जापक हैं। उनका नामजप भी चलता है और मानसिक पूजा में भी सदा संलग्न रहते हैं।

एक दिन की वात है, कि ब्रह्माजी के मानसिक पुत्र सनक-सनन्दन, सनतकुमार और सनातन ये चारों भाई घूमते-फिरते संकर्पण भगवान् के दर्शनों के लिए सुमेरु पर्वत से चलकर

शरण में आये हुए प्राणियों के कल्मषों को काटने वाली भागवती त्रिपथगामिनी गंगा की जो धारा भोगवती के नाम से प्रख्यात होकर जिस रास्ते से पाताल में गयी है, उसी रास्ते से वे चारों कुमार मुनि पाताल में पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने क्या देखा, कि एक दिव्य सिंहासन पर भगवान् अनन्त अपने प्रकाश से समस्त पाताल को प्रकाशित करते हुए विराजमान हैं। उनके हजारों फणों में हजारों मुकुट शोभा पा रहे हैं, जिनमें असंख्यों बहुमूल्य मणियाँ जगमग-जगमग करती हुई प्रकाशित हो रही हैं। प्रकाशित होती हुई समस्त मणियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानों आकाश में एक साथ असंख्यों चन्द्र उदित हो गये हों। नाग कन्याओं ने जिन पाद-पद्मों की प्रेम पूर्वक पूजा की है, जिनमें पड़े हुए असंख्यों सुगन्धित पुष्प वहाँ के प्रदेश को सुवासित कर रहे हैं, उन्हीं पाद-पद्मों में जाकर इन चारों कुमारों ने श्रद्धा भक्ति सहित सिर से प्रणाम किया। भोगवती के प्रवाह के साथ-साथ आने वाले नंग-धड़ंगे मुनियों की सुवर्ण वर्ण की जटायें भीग गई थीं। वस्त्र तो थे ही नहीं, जो भीग जाते। भीगी हुई जटाओं को ही उन्होंने संकर्षण भगवान् के चरणों में रखा। चरणों में ठंडी ठंडी जटाओं के स्पर्श होने से, भगवान् शेष जी ने अपने बन्द हुए नयन कमलों को कुछ-कुछ खोला। अर्ध विकसित उनके दो सहस्र नेत्र ऐसे ही प्रतीत होते थे, मानो आकाश में एक साथ ही अर्धोन्मीलित सहस्रों कमल खिलने को प्रस्तुत हो रहे हों।

नेत्र खोल कर उन्होंने कुमारों को देख तो लिया, किन्तु उनसे बातें कैसे करते, कुशल कैसे पूछते ? बातें करने से तो नाम जप में व्यवधान होता है। जो ओष्ठ बन्द होने के डर से "म" तक का उच्चारण नहीं करते, उनसे भला बातें करने की

आशा कैसे की जा सकती थी ? किन्तु चारों कुमार तो बड़े बुद्धिमान थे। वे भगवान् संकर्षण के भावों को समझते थे, कि ये भगवत् चर्चा के सिवाय दूसरी कोई भी संसारी बात नहीं करते। अतः उन्होंने भगवान् के चरित्रों का वर्णन करना आरम्भ किया। भगवत् चरित्रों का श्रवण करने से शेषजी के समस्त सिर हिलने लगे। सरसों के दाने के समान एक फल पर रखी समस्त पृथ्वी डगमग डगमग करके डोलने लगी। उनके समस्त अङ्गों में पुलक आदि सात्विक विकारों का प्रादुर्भाव हो गया। जब उन्होंने देखा, अब तो शेष भगवान् प्रसन्न हैं तब उन्होंने कहा—"प्रभो ! आप ही कोई भागवती चर्चा सुनावें। इतना सुनते ही शेषजी ध्यान में मग्न हो गये और प्रसन्न होकर उन्होंने कुमारों को भागवत तत्व का उपदेश दिया।

भागवत तत्व को श्रवण करके कृतार्थ हुए कुमार, भगवान् संकर्षण के पाद-पद्मों में प्रणाम करते वहाँ से चले आये। घूमते फिरते वे कभी परमव्रत शील, भगवत् भक्ति परायण महामुनि सांख्यायन के आश्रम पर आये। उन्होंने अपने आश्रम पर आये हुए कुमारों का श्रद्धा सहित स्वागत सत्कार किया। उनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर, तथा उनके श्रद्धा सहित प्रश्न पूछने पर वही भागवत ज्ञान उन्होंने उन सांख्यायन महामुनि को दिया।

उन सांख्यायन महामुनि के प्रधान शिष्य थे, भगवान् पराशर। वे बड़े ही व्रत परायण, सदाचारी, सुशील, सेवा प्रिय और आचार्य के अनुगत चलने वाले थे। उनके शील से सन्तुष्ट हुए आर्य ने उसी ज्ञान का उपदेश महामुनि पराशर

और बृहस्पतिजी को दिया। किसी प्रकार मैंने यह बात सुन ली, तब मुझे इस आदि पुराण के सुनने की चटपटी लगी। कैसे वे महामुनि मुझे इस गुह्यतम ज्ञान को देंगे। मेरी बुद्धि उतनी तीक्ष्ण भी नहीं है। मुझमें इतनी योग्यता भी नहीं हैं, कि मैं अपनी सेवा से भगवान् पराशर को सन्तुष्ट कर सकूँ। उनके तेज और प्रभाव को देख कर उनके सम्मुख यह प्रस्ताव करने का साहस भी मुझे नहीं हुआ। भगवान् पुलस्त्य मेरे ऊपर बड़ी कृपा रखते थे।

मैंने डरते डरते उनसे कहा—"भगवन्! सर्वश्रेष्ठ आदि पुराण श्रीमद्भागवत के श्रवण की मुझे बड़ी इच्छा हो रही है। सनकादि कुमारों ने उसका उपदेश शक्ति पुत्र भगवान् पराशर को किया है। उनसे यह ज्ञान मुझे कैसे प्राप्त हो? मेरा तो उनसे निवेदन करने का साहस होता नहीं।'

इस पर हँसते हुए पुलस्त्य मुनि ने कहा—'अरे, इसमें संकोच की क्या बात? पराशरजी तो बड़े दयालु हैं, जहाँ तुमने जाकर प्रार्थना की, वहीं वे तुम्हें बड़े प्रेम से पढ़ावेंगे।

मैंने कहा—'भगवन्! अकेले जाने का तो मुझे साहस होता नहीं।'

तब पुलस्त्य मुनि ने कहा—'अच्छा, चलो। मैं चलता हूँ। मैं उनसे कह दूँगा कि वे तुम्हें प्रेम से पढ़ावें।'

मुनि की ऐसी कृपा देख कर मेरे हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। मैं उनके साथ महामुनि पराशर के आश्रम पर गया। दण्ड, प्रणाम, पाद्य, अर्घ्य और कुशल-क्षेम के पश्चात् पुलस्त्यजी ने पराशरजी से कहा—'मुनिवर! यह मैत्रेय आपका शिष्यत्व ग्रहण करके आपसे भागवत तत्व श्रवण करना चाहता है। इसे आप अपना ही पुत्र समझ कर प्रेम से पढ़ावें।'

मुनि की ऐसी बात सुनकर भगवान् पराशर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'इस बात से मुझे बड़ा ही आनन्द हुआ, कि इनकी भागवत धर्मों में रुचि है। मैं इन्हें बड़े स्नेह से सब पढ़ाऊँगा।' इतना कह कर उन्होंने मुझे, बस, गुह्यातिगुह्य भागवत तत्व का उपदेश दिया।"

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुर ! जो ज्ञान मैंने अपने गुरुदेव भगवान् पराशर से सुना है, उसी को मैं तुम्हें सुनाता हूँ। तुम सावधान होकर इसको श्रवण करो। तुम श्रद्धालु हो, मेरे अनुगत हो, भक्त हो, अनुरक्त हो, विरक्त हो और भागवत गुणों में परम आसक्त हो।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—'प्रभो ! आपने तो कहा था, मैं उस ज्ञान को प्रदान करूँगा। जिसे प्रभास में श्यामसुन्दर ने आपको सिखाया था।"

इस पर मैत्रेयजी ने कहा—"उसी भागवत ज्ञान को भगवान् ने भी मुझे दिया। इस प्रकार मेरा ज्ञान गुरु-मुख से और भगवत् मुखाम्भोज से निकला होने के कारण परम-मधुर और अत्यन्त सुस्वादु है। तुम्हीं इसके एक मात्र अधिकारी मुझे आज तक मिले हो ! आज मैं इसे तुम्हें देकर, भगवान् के और अपने गुरुदेव के ऋण से मुक्त हो जाऊँगा।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान् मैत्रेय विदुरजी से सन्तुष्ट होकर, उनके सामने भागवत तत्त्व का उपदेश करने लगे।"

छप्पय

मैं हूँ चाहूँ किन्तु भागवत तत्व लहूँ कस।
श्रद्धा संयम रहित जाहि गुरु निकट कहूँ कस॥
मुनि पुलस्त्य ने कही चलो हम तुम्हें दिखावें।
शक्ति पुत्र मम मित्र प्रेम तें तुम्हें सिखावें॥
करी कृपा गुरुदेव ने, गुह्य ज्ञान मोकूँ दयो।
तात! तुरत तिहि तुम गहो, हरिहू ने जो पुनि कह्यो॥

आगे की कथा सप्तम खण्ड में पढ़ें

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में), ६६ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.२५ पै० डाकव्यय पृथक्।
२—श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठकी, सजिल्द मू० ५.२५
३—सटीक भागवत चरित—बारह बारह सौ पृष्ठ के सजिल्द दोनों खण्ड का मू० १३.००
४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ४.००
५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० सं० ३५६ मू० २.७५
६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २.००
७—कृष्ण चरित—मू० २.००
८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०
९—गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.००
१०—श्री चैतन्य चरितावली—पाँच खंडोंमें प्रथम खंड का मू० १.००
११—नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ६६ मू० ०.५०
१२—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.५०
१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५
१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१
१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखदसंस्मरण पृ०सं०१३० मू०
१६—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१
१७—प्रयाग माहात्म्य—मू० ०.१२
१८—राघवेन्दु चरित—मू० ०.३१
१९—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५
२०—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पयछंदोंमें) मू० ०.१५
२१—आलवन्दार स्तोत्र—छप्पयछन्दों सहित मू० ०.२५
२२—प्रभुपूजा पद्धति मू० ०.१६
२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.८
२४—गोपीगीत—अमूल्य।